रामायण के 26 श्लोकों
की व्याख्या

पुस्तकें - ५०

५०

इस दृश्य जलपिण्ड रूप चन्द्र का स्पर्श चन्द्रलोक में अवतरण नहीं

★

रामचरित मानस नाम नहीं किन्तु मानस रामचरित

★

तुलसीकृत रामायण के सत्ताईस श्लोकों की व्याख्या

आचार्य श्रीमधुसूदन शास्त्री

इस दृश्य जलपिण्ड रूप चन्द्र का स्पर्श चन्द्रलोक में अवतरण नहीं।

कभी प्रणिधान का युग था, जिसे आर्ष-युग कहते हैं। आज अनुसंधान का युग है। प्राणिधान की विशेषता यह है कि भ्रम प्रमाद, एवं इन्द्रिय दोषों की उसमें बिलकुल संभावना नही होती। ऋषि लोग इसी के द्वारा अखिल विश्व की स्थिति को करतल में रखे हुए आमले की तरह निर्भ्रान्त सत्य रूप में स्पष्ट देख लेते थे। यही प्रणिधान द्वारा देखना कहा जाता है। प्रणिधान द्वारा देखी गयी वस्तु पूर्ण विश्वसनीय होती है जब कि अनुसंधान द्वारा जानी गई वस्तु को उसका परवर्त्ती अनुसंधाता कभी अविश्वनीय भी ठहरा देता है या उसमें कुछ और संस्कार करने की आवश्यकता बतलाता है···इत्यादि। बुद्धि एक निःसीम पदार्थ है "सर्वं सावधि निश्चितं निरवधि प्रज्ञाख्यमन्तर्महः (संसार के सभी पदर्थों की अवधि सीमा निश्चत है, किन्तु बुद्धि रूपी 'आन्तरिक तेज' की सीमा अवधि निश्चत नहीं है) एक बुद्धिमान् ने अपनी दृष्टि से बड़ी युक्तियों एवं तर्कों से किसी तत्व का निरूपण किया उससे अधिक बुद्धिमान् ने अपनी सूझ-बूझ से उसको अस्त-व्यस्त कर दिया।

संक्षेप में इस प्रणिधान-विचार को प्रस्तुत करते हुए हम चन्द्र पर मनुष्य के अवतरण पर आते हैं। हमारा विश्वास है, दृढमत है कि अभी इस अवतरण को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि विज्ञान की इस पहल को भी अन्य मान्यताओं की तरह शायद कोई काट दे। हमारे यहां ऋषियों ने प्रणिधान द्वारा देख कर चन्द्र के विषय में पांच प्रकार की प्रतीतियां बतलाई है।

पहली प्रतीति

उनमें पहली का निष्कर्ष यह है कि जिन देवताओं की हम पूजा करते हैं उनमें एक भी देवता शरीरधारी नहीं है। भिन्न भिन्न मंत्रमय शरीर हैं। तभी तो हजारों [illegible] में हजारों लाखों आदमी एक ही

समय में उनकी पूजा करते हैं। शरीरधारी देवता एकही समय में उतने भिन्न-भिन्न स्थानों में नहीं पहुँच सकता है। क्योंकि उतने स्थानों में जाने योग्य उतने शरीर उसी समय बना लेना उसके लिए सम्भव नहीं है। ब्रह्मा एवं शिव आदि के विवाह में मंत्र मय चन्द्रादि नवग्रहों की पूजा होने में कोई आश्चर्य या शक्तिहीनता की बात नहीं है। अन्यथा अपने निर्मित शरीरधारी पौत्र की पूजा पितामह ब्रह्माजी कैसे करते।

कुछ देवता आजान देवता हैं, जो ब्रह्मा से भी पहिले के हैं। चन्द्रादि भी आजान देवता हैं। इनकी पूजा सभी कर सकते हैं। चूंकि मंत्रमय देवता शरीर धारी नही होते हैं अतः उनके स्पर्श की कोई सम्भावना नहीं है, फिर भी तत्वज्ञान-रहित एवं व्यवहारनिमग्न नर एवं नारी को इनकी पूजा का अवसर प्राप्त करने के लिये ऋषियों ने उनके स्वरूप की कल्पना की है वह शरीर वैसा ही है। जैसा कि छोटे से ग्लोब में बड़ा विशाल द्वीप। इस मंत्रमय चन्द्र का कोई लोक नहीं है अतः इसमें अवतरण की कोई संम्भावना भी नहीं है।

दूसरी प्रतीति

चन्द्र के विषय में द्वितीय प्रतीति यह है चन्द्र विराट् भगवान के मन से पैदा हुआ है, जैसा कि श्रुति बतलाती है :—'"चन्द्रमा मनसो जातः"। यह ज्योतिः स्वरूप है। चन्द्र के प्रसंग को लेकर श्री हर्ष अपने नैषधीय चरित महाकाव्य में दमयन्ती के द्वारा उपालम्भ दिलवाते हैं कि

"किमसुभिर्ग्लपितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधः स्मरः। —४५२।

(हे चन्द्र। तुम समझते हो कि यह दमयन्ती अपनी जीवित दशा में अपने मन को मुझ (चन्द्र) में निमग्न नहीं करती है किन्तु असु प्राणों के ग्लपन उत्क्रमण के बाद तो दमयन्ती का मन मेरे में ही निमग्न होगा क्योंकि वेद कहता है कि (मनश्चन्द्रे निलीयते मन चन्द्र में निलीन होता है) किन्तु हे चन्द्र ? तुम जड़ हो, मूर्ख हो मूर्ख लो

आपाततः विना पूर्वापर का अनुसन्धान किये ही श्रुतियों एवं अनुश्रुतियों के अर्थ का ग्रहण करते है और विद्वान् लोग पूर्वापर के प्रसंग का अनुसन्धान करके उन की व्याख्या करते हैं। अतः विद्वान् स्मर ने मेरे को उस श्रुति का तात्पर्य वतलाया है कि नल के मुखरूपी चन्द्र में" तुम्हारा मन निलीन होगा।

उक्त "मनश्चन्द्रे निलीयते" श्रुति का प्रसंग यह है कि ("क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमपंचतत्वात्मकं जगत्") यह जगत् आकाश वायु तेज जल एवं पृथ्वी इन पांच तत्वों-से वना है। अतः जव प्राणी मर जाता है तव उसके शरीर के अवयव पंच भूतो का जैसे पंच-महाभूतों में विलयन होता है उसी तरह मन का चन्द्र में विलयन होता है। इसे श्रुतियों में उपासकों के लिए देवयान और कर्मयोगी के लिए पितृयाण वतलाया गया है। कर्मयोगी पितृयाण के द्वारा ज्योतिःस्वरूप चन्द्र में ही प्रयाण करते हैं इसी वात को गीता में भी लिखा है:—

"धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते। इति।

अन्यत्र भी पितृयाणः स्मृतः पन्था वैश्वानरपथाद्बहिः।
तत्रासन्ते प्रजाकामाः ऋषयो यऽग्निहोत्रिणः
लोकस्य सन्तानकराः पितृयाने पथि स्थिताः।
चलितं ते पुनर्धमं स्थापयन्ति युगे युगे। इति

इसी तरह और भी वहुत कुछ पुराण में इस विषय में लिखा है। सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में लिखा है कि—"विधोरूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति। सू. सि. में भी पितरः शशिगाः" (चन्द्र के ऊपर के हिस्से में पितर लोग निवास करते है और नीचे के भाग में सुधादीधित)।

यह चन्द्र एक लोक के रूप में है, यहां यातायात होता है। किन्तु इसमें जाने वाले का स्वरूप दूसरा ही है।

तीसरी प्रतीति

तीसरी प्रतीती का चन्द्र सोमवंश—चन्द्रवंश—का मूल पुरुष जो अत्रि ऋषि के नेत्र से पैदा हुआ है। बृहस्पति की स्त्री तारा और अग्नि की स्त्री स्वाहा का अपहारी एवं बुध का पिता यही अत्रिपुत्र चन्द्र है। उसकी कथा मत्स्य-पुराण, पद्म-पुराण एवं स्कन्द पुराण आदि महापुराणों में वहुत विस्तार से है। यह चन्द्रवंश पृथ्वी पर अब भी है। भागवत में भी परीक्षित ने शुकदेवजी से प्रश्न करते समय कहा है कि "कथितो वंश विस्तारो भवता सोमसूर्ययोः"। इस चन्द्र का पृथक् कोई लोक नहीं है। अतः इसमें अवतरण की कोई संभावना नहीं है।

चौथी प्रतीति

चौथी प्रतीति है कि चन्द्र समुद्र मन्थन से निकले हुए १४ रत्नों में से एक है। इस चन्द्र रत्न को भगवान् शिव ने अपनी जटाओं का अलंकार वना लिया, जैसा कि पद्म पुराण के सृष्टि खंड के चतुर्थ अध्याय में लिखा है :—

> "ततः शीतांशुरभवद्देवानां प्रीतिदायकः।
> ययाचे शंकरो देवो जटाभूषणकृन्मम।
> अनुमेने च तं ब्रह्मा भूषणाय हरस्य तु। ५२॥५३।"

(समुद्र मन्थन में अप्सराओं के उत्पन्न होने के बाद चन्द्र पैदा हुए। जिसको शंकरजी ने अपनी जटाओं की शोभा के लिए माँग लिया और ब्रह्माजी ने उसका अनुमोदन कर दिया) इस रत्नरूप चन्द्रका भी कोई लोक नहीं है और न इसमें अवतरण संभव है।

पांचवी प्रतीति

पांचवीं प्रतीति है कि आकाश में दृश्य चन्द्र एक जलपिण्ड है जो सूर्य की किरणों से पुष्ट होता है। इसका विवरण वायुपुराण के उपोद्घात पाद के ५३ वें अध्याय में इस प्रकार है :—

> "पठ्यते चाग्निरादित्य उदकश्चन्द्रमा स्मृतः।"

(आचार्य सूर्य को अग्नि के रूप में पढ़ते है। और चन्द्रमा को जल के रूप में स्मरण करते हैं। सूर्य अग्नि और चन्द्र जल है सि. शिरोमणि में भी लिखा है। और भी :—

"सहस्रपादः सोऽग्निस्तु वृत्तः कुम्भनिभः शुचिः
आदत्ते तास्तु रश्मीनां सहस्रेण समन्ततः।
नादेयीश्चैव सामुद्रीः कौपीश्चैव स धान्वनीः।
स्थावरा जांगमाश्चैवादित्यं तं च ततो विदुः।
भास्करं वारितस्करम्।"

(जो घड़े के जैसा गोलाकार श्वेतवर्ण सहस्र किरणों वाला अग्नि है वह अपनी हजारों किरणों से नदी समुद्र कूप एवं तालावों की जलराशि का आदान कर लेता है) इसीलिए तो उसको आदित्य कहते हैं।

"तेभ्य रश्मिसहस्रन्तु वर्षशीतोष्ण निस्स्रवम्।
तासां चतुः शता नाड्यो वर्षन्ति चित्रमूर्त्तयः।
अमृताः नामतः सर्वा रश्मयो वृष्टिसर्जनाः।
उष्णवाहाश्च ताभ्योऽन्या रश्मयस्त्रिशताः पुनः।
दृश्या, मेध्याश्च वाह्याश्च ह्लादिन्यो हिमसर्जनाः।"

(उस हजार रश्मि वाले आदित्य की ४०० नाड़ियां जल वरसाने वाली है उनका नाम अमृत है। उनसे पृथक् ३०० नाड़ियां उष्णता को प्राप्त कराती है वे दृश्य हैं उनसे अलग ३०० नाड़ियां है जो हिम पाले की सृष्टि करती है। उनका नाम ह्लादिनी हैं।)

उसके वाद उसी अध्याय में फिर लिखते है कि :—

"इवे रश्मिसहस्रं यत्प्राङ् मया समुदाहृतम्।
तेषां श्रेष्ठाः पुनः सप्त रश्मयो ग्रहयोनयः।
सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्मा तथैव च।
विश्वश्रवा पुनश्चान्यः संयद्वसुरतः परम्।

अर्वाग्वसुः पुनश्चान्यः स्वराट् चात्र प्रकीर्तितः।
एवं सूर्य प्रभावेण ग्रहनक्षत्रचन्द्रकाः।
वर्धन्ते विदितं सर्वैर्विश्वं चेदं पुनर्जगत्।
ऋक्ष चन्द्र ग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसंभवाः।

सूर्य की जो हजार किरणें वतलाई गयी हैं उनमें ७ किरणें सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ग्रहों की योनी हैं। उनके नाम है :—१ सुषुम्न २ हरिकेश ३ विश्वकर्मा ४ विश्वश्रवा ५ संयद्वसु ६ अर्वाग्वसु ७ और स्वराट्। जिसको सुषुम्न किरण कहते हैं, वह क्षीण चन्द्र की वृद्धि करती हुई तिरछी होकर ऊपर घूमती है। पूर्व की तरफ की हरिकेश किरण नक्षत्रों की, दक्षिण भाग की विश्वकर्मा किरण बुध की, पश्चिम दिशा की विश्वश्रवा किरण शुक्र की, उत्तर की संयद्वसु किरण लोहित मंगल की, छठी अर्वाग्वसु किरण वृहस्पति की और सातवीं स्वराट् रश्मि शनैश्चर की जनक है। यह सबको विदित है। इस तरह ये सब सूर्य से उत्पन्न हैं और जगत् भी सूर्य से पोषण पाता है।

उनमें भी—

'नक्षत्राधिपतिः सोमो ग्रहराजो दिवाकरः
शेषाः पंच ग्रहा ज्ञेया ईश्वराः कामरूपिणः"

(सोम नक्षत्रों का अधिपति है। दिवाकर सूर्य, ग्रहो का राजा है। वाकी पांच मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र एवं शनि को ग्रह समझना चाहिए)।

ये शक्तिशाली है और इच्छा से रूप धारण करने वाले हैं। गीता में भगवान् ने भी कहा है कि नक्षत्राणामहं शशी (नक्षत्रों में मैं चन्द्र हूँ)

इन सुषुम्न आदि किरणों का जो ऊपर नीचे का क्रम वतलाया गया है। उसी के अनुसार ही अन्तरिक्ष में इनकी कक्षाए हैं। पहले सूर्य की कक्षा तव क्रमशः चन्द्र, वुध शुक्र, मंगल, बृहस्पति एव शनि की कक्षा है इनका विस्तार इस प्रकार है—

"नव योजन साहस्रो विष्कम्भः सवितुः स्मृतः ।
त्रिगुणस्तस्य विस्तारान्मण्डलं स्यात् प्रमाणतः ।
द्विगुणः सूर्यविस्ताराद्विस्तारः शशिनः स्मृतः ।
चन्द्रस्य षोडशो भागो भार्गवस्य विधीयते ।
भार्गवात्पादहीनस्तु विज्ञेयो वै वृहस्पतिः ।
वृहस्पतेः पादहीनौ कुजसौरावुभौ स्मृतौ ।
विस्तारान्मण्डलाच्चैव पाद हीनस्तयोर्बुधः ।
उपरिष्टात् त्रयस्त्वेते ग्रहा दूर विसर्पिणः ।
वक्रोंऽगिराश्च सौरश्च ज्ञेया मन्दविचारिणः ।
तेभ्योऽधस्ततात्तु चत्वारः पुनरन्ये महाग्रहाः ।
चन्द्रः सूर्यो वुधश्चैव भार्गवश्चैव शीघ्रगाः ।"

सूर्य का विष्कम्भ याने विस्तार नौ हजार योजन है । विस्तार की अपेक्षा उसका मण्डल (गोलाई) तिगुना है । सूर्य के विस्तार से दुगुना विस्तार चन्द्र का है । चन्द्र का सोलहवां भाग शुक्र माना गया है । शुक्र से चतुर्थांश कम बृहस्पति है । बृहस्पति से चतुर्थांश कम मंगल एवं शनि और उन दोनों से चतुर्थांश कम बुध है । इनमें सबसे समीप हमारे लिए सूर्य है और सबसे दूर शनि है । सबसे बड़ा चन्द्र है और सबसे छोटा बुध । तथा मंगल बृहस्पति एवं शनि उत्तरोत्तर मन्द गामी है एवं चन्द्र, सूर्य बुध एवं शुक्र शीघ्रगामी है । इनमें चन्द्र का स्वरूप शास्त्र में लिखा है । "घनतोयात्मकं तत्र मण्डलं शशिनः स्मृतम् । वृत्तं कुम्भनिभं शुक्लम्"

(घडे के जैसी गोल एवं श्वेत सघन जल की चट्टान के आकार में चन्द्र का मण्डल है । इसमें कहा गया शुक्लगुण 'अभास्वरं शुक्लं जले" के अनुसार प्रकाशशून्य है)

अतः पहले चन्द्र को जो क्षीण लिखा है, उसका आशय है कि वह प्रकाशनसामर्थ्यरहित है । किन्तु फिर भी उसमें जो प्रकाश मालूम पड़ता

है वह सूर्य का प्रकाश है उसी से वह जगत् को प्रकाशित करता है। सघन जलपिण्डरूप चन्द्र के द्वारा प्राप्त की गई सूर्य की किरणें ही चांदनी के रूप में शीतल शान्त और सुखद हैं। उससे सारा संसार आप्यायित होता है जैसे अंकुर तृण लता तरु पत्र पुष्प एवं फल सभी पनपते है पुष्टि पाते है। इसीलिए इस चन्द्र को औषधीश कहते हैं।

इनकी गति के विषय में ऋषियों को जिज्ञासा हुई कि "वायुरेव हि क्षेपिष्ठा देवता श्रुतिसम्मता।"

"प्रकाशकानि ज्योतींषि गतिस्तेषु कथं भवेत्।
भ्रमन्ते कथमेतानि ज्योतींषि दिवि मण्डलम्।
तिर्यग्व्यूहेन सर्वाणि तथैवासंकरेण च।
कश्च भ्रामयते तानि भ्रमन्ति यदि वा स्वयम्।
भूतसम्मोहनं त्वेतच्छ्रोतुमिच्छा प्रवर्त्तते।"

भूतों को आश्चर्य में डालने वाली बात है कि "वायु वैक्षेपिष्ठा देवता" वायु क्षेपण का गति का देवता है अर्थात् चलने वाला और चलाने वाला है। और ज्योतिर्गण सूर्यादि प्रकाशक है। अतः उनमें गति कैसे है। आकाश में ये तिरछे, एक दूसरे से विना टकराये एवं व्यूह के रूप में कैसे घूमते हैं। कोई इनको घुमाता है या स्वयं ये गतिशील हैं?" इस पर सूत जी ने उत्तर दिया कि "मेढीभूतो "ध्रुवो' दिवि—

"ध्रुवः कीलो ग्रहाणां तु विभक्तानां चतुर्दिशम्।
स हि भ्रमन् भ्रामयते चन्द्रादित्यौ ग्रहैः सह।
भ्रमन्तमनुगच्छन्ति नक्षत्राणि च चक्रवत्।
सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सहः।
वाय्वनीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि वै।
तेषां योगश्च भेदश्च कालचारस्तथैव च।
अस्तोदयौ तथोत्पाता अयने दक्षिणोत्तरे।
विषुवद् ग्रहणं चैव ध्रुवात्सर्वं प्रवर्त्तते।"

(जैसे तिलों को पेरने के समय बैल को जिसमें बांधते है उसको मेढ़ कहते है उसी तरह चन्द्र एवं आदित्य आदि ग्रहों एवं नक्षत्रों के लिए आकश में ध्रुव मेढ है।. चारों दिशाओ में घूमते हुए ग्रहों के लिए ध्रुव कील है। वह घूमता हुआ ध्रुव चन्द्र आदित्य को अन्यै ग्रहों के साथ घुमाता है उसमें प्रवहादि आकाशीय वायु समूहों से सूर्य चन्द्रमा नक्षत्र ग्रह एवं तारा सब बंधे हुए हैं। वह स्वयं घूमता हुआ इन सब को घुमाता है। इसी ध्रुव से सूर्यादि का परस्पर से अलगाव सामयिक मन्द शीघ्र एवं उच्च गति या अस्त, उदय, उत्पात दक्षिणायन एवं उत्तरायण आदि होते हैं। इस सिद्धान्त में यह चन्द्र एक जल-पिण्ड है 'जो अपने स्वरूप जल तत्त्व से सबको जल मिश्रित अतएव शीतल किरणों से प्रकाशित करता है। यह सघन जल चन्द्रलोक रूप नहीं है। अतः इसमें अवतरण का प्रसंग किसी पहाड़ की चट्टान पर अवतरण के जैसा हो सकता है।

चन्द्र के जलमय होने से ही जिसके जन्मलग्न में चन्द्र का योग होता है वह व्यक्ति कफ प्रकृति का होता है। यह सूर्य की किरणों को पाकर प्रकाश फैलाता है और संचार के आधार पर सूर्य की किरणों की प्राप्ति में तरतम भाव कमी वेशी होने से चन्द्र में भी तारतम्य स्पष्ट रहता है यही चन्द्र का ह्रास एवं बढ़ना कहाता है। सुदि अष्टमी को आधी रात में आधा चन्द्र अस्त होता है और बदि में वह वैसा ही उसी समय उदित होता है। अमावस्या को सूर्य और चन्द्र दोनों का प्रातः काल में योग होता है। अतः रात भर सूर्य की किरणों का सम्पात उसमें नहीं होने से अन्धकार रहता है। फिर प्रातःकाल में सूर्य के प्रकाश में अन्य सभी प्रकाश जब विलीन हो जाते है तब चन्द्रमा का प्रकाश कहाँ दिखाई देगा। पूर्णमासी को सूर्य और चन्द्र का ६ राशि का अन्तर रहता है उस समय वे दोनों आमने-सामने रहते हैं अतः उसका पूर्ण प्रकाश विश्व को मिलता है।

इन ऊपर बतलाये हुए चन्द्रों में से एक के सिवाय औरों में

लोक अर्थात् भुवन का लक्षण फिट नहीं होता है। भुवन का लक्षण यह है :—

महाद्वीपाः समुद्रा वा पर्वताः सरितो नदाः।
महीभूत प्रमाणं च लोकालोकौ तथैव च।
पर्यासः पारिमाण्यं च गतिश्चन्द्रार्कयोस्तथा।
एते भावास्तु यत्र स्युः भुवनं तद्बुधैः स्मृतम्।

जहाँ बड़े २ द्वीप समुद्र, नद नदी, तलाब, पर्वत, क्षेत्र वन, प्राणियों का प्रमाण, लोक एवं अलोक, रद्दो बदल, परिमाणत्व तथा चद्रार्क की गति ये भाव हों वह भुवन है। अतः भुवन के विना यातायात संभव नहीं है।

—मधुसूदन शास्त्री

❃ श्रीः ❃

मानस रामचरित नाम है न कि रामचरित मानस

आनन्दकन्द सच्चिदानन्द परात्पर पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी का यश निर्मल पावन, मंगल-भवन एवं अमंगलहरण है। इसके वर्णन कर्त्ता वाल्मीकि ऋषि हैं, जिन्होंने संस्कृत भाषा में पहले पहल काव्य रचा। जिससे यही आदि कवि हैं और इनका काव्य आदि काव्य है।

इनके बाद सर्वसाधारण के हितार्थ मंगलकारी भगवान् राम के यश का वर्णन संत तुलसीदास जी ने किया, जो उनके ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के विषय में जो कुछ कहा जाय वह सब पुनरुक्त ही होगा। यह सूर्य के प्रकाश की तरह सत्य है कि इस ग्रन्थ के द्वारा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की जैसी सुरक्षा हुई तथा हो रही है और भविष्य में भी होगी वैसी अन्य किसी ग्रन्थ से सम्भव नहीं। इसका एक-एक अक्षर प्राणियों के महापातक को नाश करने वाला है और कल्याणकारक है। जिस व्यक्ति ने जिस कामना की पूर्ति के लिए इस ग्रन्थ का पाठ किया या करता है उसकी कामना पूर्ण हुई और होती है।

इस महाभीषण वर्त्तमान समय में भी संस्कृत में निवद्ध वेद एवं धर्मशास्त्र वगैरह से जितना उपकार नहीं हो रहा है, उतना उपकार सन्त तुलसीदास जी के भाषा में निवद्ध ग्रन्थ से हो रहा है। ऐसे महत्वपूर्ण सर्वहित-कारी ग्रन्थ के नाम के विषय को लेकर कोई विवाद खड़ा करना अभीष्ट तो नहीं है, किन्तु इसे एक विचारणीय विषय मान कर कुछ विचार करना अनावश्यक या अनुचित नहीं होगा। कुछ ऐसे तथ्य सामने आये हैं जिनसे यह प्रश्न सहज ही आ गया है कि इसका नाम 'मानस-रामचरित' है या रामचरितमानस'। सन्देह का कारण है महामाननीय सन्त श्री तुलसीदास जी की युक्तिमयी एवं रूपकमयी भाषा में इस ग्रन्थ का नाम निर्देश। उसी का हम अपनी बुद्धि के अनुसार उल्लेख करते हैं। सन्त जी के शब्द हैं :—

भगति हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद धावति आई (कवि के स्मरण करते ही उसकी भक्ति के कारण शारदा ब्रह्माजी के भवन ब्रह्मलोक को छोड़ कर दौड़ी हुई आती है; किन्तु दौड़ कर आने में थक जाती है।)

रामचरित-सर विनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ (किन्तु दौड़ कर आने से हुई उनकी वह थकावट रामचरितरूपी सर (तालाव) में उन्हें स्नान कराये विना करोड़ों उपायों से भी जा नहीं सकती है (यहाँ बालकाण्ड के दशवें दोहे की तीसरी चौपाई में रामचरित को सर कहा है अतः उसमें सर का रूपक है। इसके बाद :—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति शारदा कहहिं सुजाना।
जो बरषहिं वर वारि विचारू। होंहिं कवित मुकुतामणि चारू।

सुजन (बुद्धिमान्) लोग हृदय को समुद्र, बुद्धि को सीप और सरस्वती को स्वाति नक्षत्र के समान कहते हैं। और यहाँ जो उत्तम विचाररूपी जल बरसता है वह मुक्तामणि के समान सुन्दर कविता है।

जुगुति वेधि पुनि पोहि अहिं, रामचरित वर ताग।
परिहहिं सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग।

(उन कविता रूपी मुक्तामणियों को युक्ति से वेध कर फिर रामचरित रूपी उत्तम धागे में पिरोकर सज्जन लोग हृदय पर धारण करते हैं। जिससे अत्यन्त अनुराग रूपी शोभा होती है।)

यहाँ इसी काण्ड के ११वें दोहे में रामचरित को धागा कहा है। अतः इनमें धागे का रूपक है। इसके बाद —

कवि कोविद रघुवर चरित मानस मंजु मराल।

(कवि एवं विद्वान् लोग रघुवरचरित रूपी मानस (सरोवर) के सुन्दर हंस हैं।)

यहाँ इसी कांड के १४वें दोहे में कवि कोविद को मराल बनाने के लिए रामचरित को मानस कहा है; अतः इसमें मानस का रूपक है। इस तरह सरस्वती की थकावट को मिटाने के लिए स्नान के वास्ते रामचरित को सर बनाया। दूसरी बार रामचरित को धागा बनाया; तीसरी बार रामचरित को मानस बनाया। अब जब स्वरचित ग्रन्थ के नामकरण का प्रसंग आया तब उसके लिए युक्ति देते हुये जो नाम रखते हैं वही नाम रूपकालंकार के तरीके से भी रखते हैं—

रचि महेस निजमानस राखा। पाई सुसमयउ सिवा सन भाखा।
तातें मानस रामचरित वर। धरेउ नाम हिय हेरा हरषि हर।

(श्री महादेवजी ने रामचरित को रचकर अपने मन में रखा और उत्तम अवसर पाकर पार्वती जी को मन में रखा हुआ रामचरित भाखा यानी कहा। यही उल्लेख अध्यात्म रामायण में भी आता है जैसे—

पार्वत्यै परमेश्वरेण गदिते ह्यध्यात्मरामायणे। इसीलिए श्री महादेवजी ने हिय हेरि अपने मन में रखे हुए रामचरित को देखकर हरषि (हर्ष से) मानस रामचरित वर (उत्तम) नाम रखा।

अतः इस युक्ति से सन्त तुलसीदास जी की रचना का नाम 'मानस रामचरित, है न कि 'रामचरित मानस, है। ऐसी युक्तीयों से नामकरण का उल्लेख प्राचीन आर्षग्रन्थों में मिलता है, जैसा कि मानस सरोवर एवं सरयू नदी के विषय में वाल्मीकीय रामायण के २४वें सर्ग में उल्लेख है।

कैलासपर्वते राम ! मनसा निर्मितं परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल ? तेनेदं मानसं सरः।

(हे नरशार्दूल राम ! ब्रह्माजी ने अपने मन से कैलास पर्वत पर सर को वनाया इससे यह सर मानस कहलाता है।

तस्मात् सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते।
सरः प्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता।

(उस मानस सर से बह कर चली हुई वह अ योध्या का आलिंगन करती है। सरसे निकली है अतः सरयू उस नदी का नाम है और ब्रह्म सर से वह रही है अतः यह पुण्य पवित्र है।)

इसके वाद इस नाम को इसी काण्ड के ३५ वें दोहे की २, ४ ५, वीं चौपाइयों में रूपकालंकार के द्वारा पुष्ट करते हैं। :—

"सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू।
वरषहि राम सुजस वर वारी। मधुर मनोहर मंगलकारी।

सात्विकी बुद्धि भूमि है मानस गहरा गर्त्त है; वेद पुराण समुद्र है, और साधु संत मेघ है। वे मेघ राम सुजस (रामचरित) रूपी मधुर-मनोहर अतीव सुन्दर एवं मंगलकारी वारि की वर्षा करते हैं।

मेधा महिगत सो जल पावन। सिमिटि श्रवन मेगु चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना।

(वह रामचरितरूपी पावन जल (वक्ता गुरु की) सुमति रूपी भूमि पर गिरा और सिमट कर शिष्य (श्रोता) के सुहावने कान रूपी

मार्ग से चला; फिर उसके मानसरूपी सुन्दर गर्त में भर कर वहीं स्थिर हो गया।) यहाँ मानस का अर्थ दोनों ही जगहों में हृदय है। मानस सरोवर नहीं है। साधुरूपी मेघों के द्वारा राम सुजस रामचरितरूपी जल वर्षाया गया है, जो श्रोताओं के कर्ण मार्ग से जाकर हृदय गर्त्त में भर गया है।

इस तरह रूपकालंकार से भी मानस में भरे हुए रामचरित के आधार पर भी संत तुलसीदास जी के इस ग्रन्थ का नाम मानस राम-चरित ही है न कि 'रामचरित मानस'। चूँकि शिवजी ने रामचरित को रचकर अपने मन में रखा जो वक्ता गुरु की सुमति में आया और सिमट कर श्रोता शिष्य के कर्णमार्ग से उसी के मानस में भरकर स्थिर हो गया, अतः दोनों युक्ति और रूपकालंकार के सिद्धान्त से मानस रामचरित ही नाम संगत होता है न कि रामचरित मानस।

अस्तु, आजकल की मुद्रित रामायण की पुस्तकों में जो रामचरित मानस' छपा है, वह किसी भ्रामक लिपि के आधार पर छपा है। चौपाइयों की प्राचीन रचना, 'मानस रामचरित एहि नामा', 'मानस रामचरित मुनि भावन' आदि रही है। भ्रम और असावधानी से कुछ का कुछ पढ़ लिया जाता है। "नायिका 'रबड़ी' खाती है" इसी को नायिका 'खड़ी' खाती है" पढ़ लिया जाता है। अच्छा मान लीजिए कि रामचरित मानस मुनि भावन" यहीं पुराना पाठ है तब भी कोई हर्ज नहीं। क्योंकि उसका अन्वय मानस रामचरित ही है। जैसे निम्नलिखित सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू। इस चौपाई में लिखा तो है थल हृदय अगाधू और घन साधू किन्तु अन्वय करते हैं हृदय अगाध थल है। साधु घन है उसी तरह के लेख को आगे भी कई चौपाइयों में अन्वय किया गया है। अस्तु।

एक और भी वात है कि शंभु ने मानस को तो रचा नहीं उन्होंने तो रामचरित को रचा जैसा कि संत तुलसी जी स्वयं कहते हैं रचि

महेश निज मानस राखा। और मानससरोवर की रचना पुराणादि शास्त्रों के आधार से ब्रह्माजीने की है। जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

यह भी विचारने की बात है कि यदि रामचरित को मानस सरोवर बनादेंगे तो रूपक अलंकार यहाँ हुआ तब अलंकार शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार उपमेय रामचरित उपमान मानस के रूपको धारण करता है अतः उपमेय रामचरित का अपना रूप पिहित हो जाता है वह गौण हो जाता है मुख्य प्रधान उपमान मानस हो जाता है। ऐसी स्थिति में "त्रिविध दोष" यह अर्धाली व्यर्थ हो जायेगी क्योंकि उपमान मानससर में यह सामर्थ्य नही है कि वह आधिभौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक त्रिविध दोषों दुःखों एवं दारिद्रय तथा कलि कुचालों और कुल कलुषों का नाश करे। अतः जहाँ कहीं "कवि कोविद रघुवर चरित मानस मंजु रसाल" इत्यादि दोहों में रामचरित में मानस रूपक किया है, वहाँ उसका उत्तर तो स्पष्ट है। संस्कृत के विद्वन्मानसहंस में राजा को हंस बनाने के लिए विद्वानों के मन को मानस सरोवर बनया उसी तरह कवि कोविद को मंजु मराल बनाने के लिए रामचरित को मानस बनाया है। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपक किये हैं। यहाँ रामचरित को मानस कहा है। इसी काण्ड के ३१वें दोहे से लगी "रामचरित चिन्तामणि चारू" आदि चौपाइयों में रामचरित में चिन्तामणि इत्यादि कितने रूपक किये हैं। वह रामचरित सद्गुरु, वैद्य, सिंहशावक, अगस्त्य मुनि, यंत्र, महामणि, सूर्य, कल्पवृक्ष आदि-आदि है। नामकरण से उनसे कोई वास्ता नहीं। सिद्धान्त तो एक ही है— नामकरण का प्रसंग। उसमें क्या युक्ति दी है कैसा नाम किया गया है। वहाँ जो युक्ति और रूपक से नाम किया है उससे सही सर्वतोभावेन सिद्ध है कि तुलसीदासकृत रामायण का नाम 'मानस रामचरित' ही शुद्ध है, जो विद्वद्वृन्द वन्दनीय संत तुलसीदास जी की मानस भावना का परम पवित्र प्रतीक है।

इस पर यहाँ शंका हो सकती है कि जब रामचरित को मानस सर मानते हैं तब तो इसी काण्ड के ३६वें दोहे ;—

"सुठि सुन्दर संवाद वर, विरचे बुद्धि विचारि,
तेहिं येहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि ।"

की संगति बैठ जाती है। घाट पानी के दायरे में ही होते हैं (बिना पानी के भूमि में नहीं होते ।) प्रकृत में सर का अर्थ सभी कोशों के अनुसार जल ही है, जैसे गंगा माने गंगा नाम वाला जल। अतः गंगा पद का अर्थ भगीरथ के रथ के संचार से खुदे हुए गर्त्त में बहने वाला जल है। इसी तरह यमुना एवं कौशिकी नदियों का अर्थ है यमुना नामक जल कौशिकी नामक जल। तदनुसार भक्तों के मानसरूपी गर्त्त में भरा हुआ साधुरूपी मेघों से बर्षाया गया रामचरित रूपी जल, जिसको प्रकृत में सर शब्द से कहा गया है, उसमें घाटों का होना उचित ही है, कोई असङ्गति नहीं है। यह नितान्त असंभव है कि मानसरूपी गर्त्त में भर कर स्थिर हुए रामचरितरूपी जल को ही प्रकृत में मानस-सर शब्द कह दिया गया हो, क्योंकि सामान्य सन्तरूपी धन यहाँ लिया गया है, न कि अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती, द्वैती (भेदवादी), द्वैता-द्वैती (भेदाभेद वादी) अचिन्त्य द्वैताद्वैती (अचिन्त्य भेदाभेदवादी), विशेष सन्त रूपी धन। अतः इन सामान्य सन्तरूपी मेघों से वर्षाया हुआ जल भी सामान्य ही है, न कि कोई विशेष मानस नाम वाला जल। क्योंकि तुलसीदास जी ने आरम्भ में ही "नाना पुराण सभी निगम, आगम, रामायण, तथा अन्य महाभारत आदि सर्वसाधारण से सम्मत एवं उनमें निगदित ही रामचरित का उल्लेख करूँगा' यह लिख दिया है। अतः मानसरामचरित, नाम ही ठीक है, रामचरितमानस नहीं। एक बात और भी है कि इस तरह मानस में भरे हुए रामचरित को फिर मानस कहेंगे तो "मानस रामचरित मानस" यह अटपटा नाम विद्वद्वृन्द सम्मत नहीं होगा।

—मधुसूदन शास्त्री

श्रीमते रामचन्द्राय नमः

आचार्य श्रीमधुसूदनशास्त्री की रचित

तुलसीकृत रामायण के सत्ताईस श्लोकों की व्याख्या

गो० तुलसीदासकृत रामायण के सप्त काण्डों के आरंभ में एवं सप्तम काण्ड के मध्य और अंत में देववाणी संस्कृत के सत्ताइस श्लोक हैं। स्वयं को संस्कृत के पूर्ण ज्ञाता माननेवाले अर्द्ध विकसित जनों की किसी गोष्ठी में प्रसंगवश रामायण की चर्चा छिड़ने पर यह कहा जाता है कि संतजी ने देववाणी के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करने के निमित्त यद्यपि मानस में संस्कृत के भी कुछ पद्य रचकर धर दिये हैं, तद्यपि वे संस्कृत-व्याकरण के लक्षणों से च्युत हैं; रस, अलंकार एवं गुणों से युक्त होने पर भी यदि वाणी व्याकरण-संमत नहीं है तो वह सज्जनों को प्रसन्न करने में उसी प्रकार समर्थ नहीं होती जैसे कुष्ठी नायिका—'रसालङ्कारगुणयुक् वाणी व्याकरणोज्झिता। न रञ्जयति श्वित्रांगा नायिकेव हि सज्जनान्; अतः संतजी भाषा-मर्मज्ञ ही थे संस्कृतज्ञ नहीं थे; उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'भाषाभनिति भोरि मति मोरी'। इस पर नैषधकार कहा याद पड़ता है कि 'जनानने कः करमर्पयिष्यति', अर्थात् जनता के मुख को कौन बंद करे। फिर भी विचार-विनियम की स्वतंत्रता तो है ही।

'विद्या कालेन पच्यते'। ज्ञान की पुष्टि के लिये समय की अपेक्षा होती है। कोई भी अभिभावक चाहे वह कितना ही बड़ा विद्वान् या कल्पना-कुशल क्यों न हो अपने आत्मीय जन, पुत्रादि में अपनी धन-राशि की तरह अपनी ज्ञान-राशि को तत्काल संक्रांत नहीं कर सकता है। क्योंकि सिद्धांत है—

इस पर यहाँ शंका हो सकती है कि जब रामचरित को मानस सर मानते हैं तब तो इसी काण्ड के ३६वें दोहे ;—

"सुठि सुन्दर संवाद वर, विरचे बुद्धि विचारि,
तेहिं येहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि।"

की संगति बैठ जाती है। घाट पानी के दायरे में ही होते हैं (विना पानी के भूमि में नहीं होते।) प्रकृत में सर का अर्थ सभी कोशों के अनुसार जल ही है, जैसे गंगा माने गंगा नाम वाला जल। अतः गंगा पद का अर्थ भगीरथ के रथ के संचार से खुदे हुए गर्त्त में वहने वाला जल है। इसी तरह यमुना एवं कौशिकी नदियों का अर्थ है यमुना नामक जल कौशिकी नामक जल। तदनुसार भक्तों के मानसरूपी गर्त्त में भरा हुआ साधुरूपी मेघों से वर्षाया गया रामचरित रूपी जल, जिसको प्रकृत में सर शब्द से कहा गया है, उसमें घाटों का होना उचित ही है, कोई असङ्गति नहीं है। यह नितान्त असंभव है कि मानसरूपी गर्त्त में भर कर स्थिर हुए रामचरितरूपी जल को ही प्रकृत में मानस-सर शब्द कह दिया गया हो, क्योंकि सामान्य सन्तरूपी धन यहाँ लिया गया है, न कि अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती, द्वैती (भेदवादी), द्वैता-द्वैती (भेदाभेद वादी) अचिन्त्य द्वैताद्वैती (अचिन्त्य भेदाभेदवादी), विशेष सन्त रूपी धन। अतः इन सामान्य सन्तरूपी मेघों से वर्षाया हुआ जल भी सामान्य ही है, न कि कोई विशेष मानस नाम वाला जल। क्योंकि तुलसीदास जी ने आरम्भ में ही "नाना पुराण सभी निगम, आगम, रामायण, तथा अन्य महाभारत आदि सर्वसाधारण से सम्मत एवं उनमें निगदित ही रामचरित का उल्लेख करूँगा' यह लिख दिया है। अतः मानसरामचरित नाम ही ठीक है, रामचरितमानस नहीं। एक बात और भी है कि इस तरह मानस में भरे हुए रामचरित को फिर मानस कहेंगे तो "मानस रामचरित मानस" यह अटपटा नाम विद्वद्वृन्द सम्मत नहीं होगा।

—मधुसूदन शास्त्री

श्रीमते रामचन्द्राय नमः

आचार्य श्रीमधुसूदनशास्त्री की रचित

तुलसीकृत रामायण के सत्ताईस श्लोकों की व्याख्या

गो० तुलसीदासकृत रामायण के सप्त काण्डों के आरंभ में एवं सप्तम काण्ड के मध्य और अंत में देववाणी संस्कृत के सत्ताइस श्लोक हैं। स्वयं को संस्कृत के पूर्ण ज्ञाता माननेवाले अर्द्ध विकसित जनों की किसी गोष्ठी में प्रसंगवश रामायण की चर्चा छिड़ने पर यह कहा जाता है कि संतजी ने देववाणी के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करने के निमित्त यद्यपि मानस में संस्कृत के भी कुछ पद्य रचकर धर दिये हैं, तद्यपि वे संस्कृत-व्याकरण के लक्षणों से च्युत हैं; रस, अलंकार एवं गुणों से युक्त होने पर भी यदि वाणी व्याकरण-संमत नहीं है तो वह सज्जनों को प्रसन्न करने में उसी प्रकार समर्थ नहीं होती जैसे कुष्ठी नायिका—'रसालङ्कारगुणयुक् वाणी व्याकरणोज्झिता। न रञ्जयति श्वित्रांगा नायिकेव हि सज्जनान्; अतः संतजी भाषा-मर्मज्ञ ही थे संस्कृतज्ञ नहीं थे; उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'भाषाभनिति भोरि मति मोरी'। इस पर नैषधकार कहा याद पड़ता है कि 'जनानने कः करमर्पयिष्यति', अर्थात् जनता के मुख को कौन बंद करे। फिर भी विचार-निनियम की स्वतंत्रता तो है ही।

'विद्या कालेन पच्यते'। ज्ञान की पुष्टि के लिये समय की अपेक्षा होती है। कोई भी अभिभावक चाहे वह कितना ही बड़ा विद्वान् या कल्पना-कुशल क्यों न हो अपने आत्मीय जन, पुत्रादि में अपनी धन-राशि की तरह अपनी ज्ञान-राशि को तत्काल संक्रांत नहीं कर सकता है। क्योंकि सिद्धांत है—

शनैः पन्थाः, शनैः कन्था, शनैः पर्वतलंघनम् ।
शनैर्विद्या, शनैर्वित्तं पञ्चैतानि शनैः शनैः ॥

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा ।
जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा ॥

अतः विद्या परिश्रम से धीरे-धीरे संकलित होती है और तब सज्जन विद्वान् हो जाता है ।

जब नित्यप्रति व्यवहार में आनेवाली हिंदी भाषा के पद्यों का वास्तविक भाव भी समझना कठिन हो जाता है तब संस्कृत भाषा के पद्यों का क्या कहना ? उनका समझना तो परिश्रम से ही साध्य है उसके सूक्ष्म भावों की पकड़ अर्ध विकसित जनों के बूते की बात नहीं है । उदाहरण स्वरूप मानस की ही चौपाई प्रस्तुत है—

गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिअ दृग दोष विभंजन ॥
तेहि करि विमल विवेक विलोचन । बरनउँ रामचरित भवमोचन ॥

यहाँ एक ही प्रसंग में एक ही अर्थ के वाचक नयन, दृग एवं विलोचन तीन शब्दों के प्रयोग का रहस्य साधारण अर्ध विकसित जन की बुद्धि के लिए वेद्य नहीं है । क्योंकि 'शब्दभेदेन अर्थ भेदः, इस न्याय के अनुसार एक ही अर्थ को विभिन्न शब्दों से व्यक्त करने पर उनके अर्थों में भेद हो जाता है । तब द्रष्टव्य है कि वह भिन्न अर्थ कौन है ? यदि कहें कि संबंधियों के भेद से इन अर्थों में भेद होना अनिवार्य है, तब प्रष्टव्य है कि वे भिन्न-भिन्न संबंधी कौन हैं ? गुरु पद का रज, जिसमें अंजन का रूपण है, वह भी एक संबंधी है । शिष्य की आँख भी एक संबंधी है । फिर भेद की समाई कहाँ ? यदि कहें कि 'नयन, का अर्थ है ले जाने वाला—तब वह ले जाने वाला गम्य स्थान के लिए सन्मार्ग से ले जाय, गुमराह करके नष्ट न कर दे—तो कहा जा सकता है कि नष्ट करनेवाले भाव को हटाने के लिए ही अंजन है

अमृत का रूपक दिया गया है। देखने में बाधा पहुँचानेवाले दोषों को दूर करने के लिए दोष विभंजन का उपादान किया है। समालोचन पुरस्सर पदार्थ का निरूपण करना है, अतः विवेक का विलोचन कहा है। अब पुनः प्रश्न होता है कि जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि, इस कवि-विषयक प्रसिद्धि का द्योतन करने के लिए अक्षू व्याप्तौ से बने 'अक्षि, शब्द का यहाँ प्रकृत प्रसंग में उपादान करना परम आवश्यक था, न करना प्रत्युत दोष है और सर्वत्र व्याप्त होकर समझने के बाद कहनेवाले अर्थ का द्योतक चक्षुः पद का भी उपन्यास करना आवश्यक था। वे दोनों पद यहाँ क्यों नहीं रखे गए, ये तीन ही क्यों रखे गए ? प्रत्युत इन्हीं दो प्रमुख पदों को रखना चाहिए था। अतः यह रहस्य गवेषणीय है। संत के चरणों में विनम्र होने पर ही इसका रहस्योद्भेद होगा। कहा है—

भक्त्या भागवतं शास्त्रं, न व्युत्पत्त्या, न टीकया।
गृहिण्या गृहकार्याणि न पुंश्चल्या न वेश्यया॥

यह भागवत शास्त्र है। भक्ति से प्राप्त होगा। अन्य उपाय नहीं है। इसीलिए गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' अर्थात् प्रणिपात से, प्रश्न करने और सेवा से शिष्य के लिए गुरु से ज्ञान की उपलब्धि संभव है। अब प्रकृत विषय पर आइए।

बालकाण्ड

[१]

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ॥

ग्रंथारंभ में विघ्नविनाशार्थ नमस्कारात्मक मंगल और स्तुति की योग्यता को गोस्वामी जी कहते हैं। मैं तुलसीदास 'वाणी' भगवती सरस्वती और 'विनायक' गणेश जी की वंदना करता हूँ, प्रणाम करता हूँ और स्तुति करता हूँ। यहाँ 'वंदे' पद के दोनों अर्थ विवक्षित हैं।

'वदि अभिवादन-स्तुत्योः' इस धातु से लट् लकार के उत्तम पुरुष में यह पद बना है। जिनमें स्तुति अर्थात् स्तोत्र चार प्रकार के होते हैं—

द्रव्यस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च।
तथवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेतच्चतुष्टयम्॥

प्रकृत में यहाँ वाणी एवं विनायक के कर्मों की स्तुति है। वर्ण, अर्थसंघ, रस, छंद भाव एवं मंगल आदि कर्मों के ये कर्त्ता हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि वाणी-विनायक को 'कर्त्तारौ' कैसे कहा? क्योंकि सृष्टिकर्त्ता तो ब्रह्माजी हैं या प्रकृति माया है। उत्तर—कर्त्ता पाँच प्रकार के होते हैं—

क्रियामुख्यो भवेत् कर्त्ता, हेतुकर्त्ता, प्रयोजकः।
अनुमन्ता, ग्रहीता च कर्त्ता पञ्चविधः स्मृतः॥

'खाता है,' 'पीता है' इत्यादि में कर्त्ता क्रियामुख्य है। 'भिक्षा वासयति', 'संग्रामो वासयति', 'अध्ययनं वासयति' इत्यादि में फल को हेतु कहा है, अतः हेतु कर्त्ता है। 'पाचयति", "गमयति 'देवदत्तः' में प्रयोजक कर्त्ता है। 'ज्वर है काढ़ा पीओ' और ग्रह की पूजा करो इत्यादि औषध एवं ग्रह-शांति का उपदेष्टा वैद्य एवं ज्यौतिषी तथा राजा, आचार्य, ऋत्विक्, अनुमंता हैं। ईश्वर पद से कहे गए सभी देवता अनुग्रहीता कर्त्ता हैं।

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।—श्रुति।

इस प्रकार यहाँ वाणी-विनायक अनुग्रहीता कर्त्ता हैं, जनकरूप कर्त्ता नहीं हैं।

प्रश्न—रामायण काव्य है। अतः आचार्यों के 'शब्दार्थौ काव्यम्', 'अर्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्', रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' इत्यादि। काव्यलक्षणों के अनुसार 'शब्द' का प्रथम स्थान है किंतु मानस में

गोस्वामीजीने 'वर्णों' को प्रथम स्थान दिया है, इसका क्या कारण है ? इसके अतिरिक्त काव्यलक्षणों में केवल 'अर्थ' को ही स्थान दिया है। फिर गोस्वामीजी के 'अर्थसंघानां' के संघ का क्या तात्पर्य है ? उत्तर।

'वर्णानां' का यह भाव है कि मुख्यतः वर्णों के ही सहारे पदों के अर्थों का स्वरूप निखरता है। क्योंकि 'पुनि पुनि अक्षर वहि परत अर्थ और ही और,। जैसे 'विमल, एक शब्द है। इसमें प्रयुक्त 'म, और 'ल, अक्षर कमल, खटमल, गमला, झमेला धमाल, यमल, रसल, ललाम, हमल एवं हमला में भी आए हैं, किंतु सबके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार 'विमल, के 'वि,और 'म, अक्षर विमत, विमार्ग, विमद, विमाता आदि शब्दों में बार-बार आए हैं, किंतु अर्थ और ही और है। यही प्रत्येक शब्द में वर्णों की स्थिति है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्णों के सहारे से ही पदों के अर्थ का स्वरूप निखरता है। क्योंकि वर्णों से पद, पद-समूह से वाक्य, वाक्य-समूह से महावाक्य एवं ग्रंथ बनते हैं। अतः मूलतत्त्व वर्ण है, जिसका प्रथम विन्यास साभिप्राय है।

एक बात और है। इसी पद्य में 'रसानां, पद भी रखा हुआ है। उसके साथ भी वर्णों का समन्वय है। रस के बरसाने में और गुणों को व्यक्त करने में विरोध एवं अनुरोध पूर्णरूपेण वर्णों के ही हाथ में है' जैसा कि कहा है—

> शषौ सरेफसंयोगो ढकारस्यापि भूयसा।
> विरोधिनः स्युः श्रृगारे ते, न वर्णा रसच्युतः ॥

भूयसा अर्थात् अधिक रूप में प्रयुज्यमान ये श, ष रेफ प्रधान संयोग एवं ढकार वर्ण श्रृंगाररस में विरोधी होते हैं। अतः वे वर्ण रस-वर्षा नहीं करते। अपने अनुकूल वर्णों के अभाव में श्रृंगाररस का अभाव है। अतः 'वर्णाभावे रसाभावः, यह व्यतिरेक बतलाया है। इसमें 'ते, का अन्वय वर्णों के साथ और 'नकार, का रसच्युतः के साथ है।

त एव तु निवेश्यन्ते वीभत्सादौ रसे यदा ।
तदा ते दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः ॥

जब उन्हीं वर्णों को वीभत्स, रौद्र एवं भयानक रस में निवेश करते हैं तब वे उन रसों को प्रदीप्त करते हैं। इस कारण वर्ण रस-वर्षा में अनुरोधी हैं। इसमें 'तेन' यह हेतु में तृतीया है। अतः वर्णसत्वे रससत्वं यह अन्वय बतलाया है।

वर्णों को रसव्यंजक सिद्ध करने के बाद गुणव्यंजक कहते हैं। 'वर्णाः समासो रचना तेषां (गुणानां) व्यञ्जकतामिताः ।' उन गुणों के व्यंजक वर्ण, समास एवं रचनाएँ हैं। इन्हीं कारणों से वर्णों का प्रथम विन्यास किया।

केवल इसी स्थल पर नहीं आगे चलकर भी 'आखर अरथ अलंकृति नाना' लिखकर अक्षरों (वर्णों) को ही प्राथमिकता प्रदान की है। 'वर्ण' शब्द 'वर्ण वर्णक्रिया-विस्तार-गुण-वचनेषु" धातु से बना है। उसका अर्थ है—वर्णक्रिया पालिश करना, मुलम्मा करना, सुवर्णं वर्ण्यति सोने का मुलम्मा करता है। दूसरा अर्थ है—विस्तार करना। 'कथां वर्णयति' कथा का विस्तार करता है। प्रकृत में रामचरित का हिंदी में विस्तार करना है। संस्कृत में तो 'शतकोटि प्रविस्तरम्' के अनुसार सौ करोड़ में विस्तार था, किंतु हिंदी में विस्तार नहीं था। 'वर्णानां' को सर्वप्रथम पद्य के आदि में स्थान देना इसी ओर संकेत करता है।

अब विचारणीय यह है कि जब 'वर्णानां' का अर्थ कथा विस्तारकाणां 'वाचकानां' करने पर वर्ण शब्द से सभी अर्थों की उपलब्धि हो ही जायगी तब 'अर्थ' के साथ 'संघ' शब्द के विन्यास की अपेक्षा ही क्या है ? उत्तर। रामायण में विविध प्रकार के छंद, सोरठे, दोहे, चौपाइयाँ आदि व्यवहृत हैं। उनसे पाठकों को श्रीराम के गुणों का संघ रूप में

तभी प्रस्फुरित होना संभव है जब उनमें प्रयुक्त वर्णों से संघ रूप में अर्थ उपस्थित हों। प्रत्यक्ष अनुभव से यह उपस्थिति सिद्ध भी है, जैसा कि मानस के कथावाचक अपने प्रवचनों में भिन्न-भिन्न तथा नए-नए अर्थ-समूहों की उद्भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं। इसी 'संघ' के भाव को गोस्वामीजी ने 'आखर अरथ अलंकृति नाना' अर्धाली में 'नाना' पद रख कर स्पष्ट कर दिया है। किंतु वाचक शब्द से संकेतित अर्थ ही उपस्थित होंगे अर्थ-समुदाय नहीं। अतः अपेक्षित अर्थ-समुदाय की उपस्थिति के हेतु 'संघ' शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक है।

यहाँ प्रयुक्त 'रसानां' पद से शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत एवं शांत इन नो प्रसिद्ध कवितारस ('जदपि कवित रस एकौ नाहीं') के साथ-साथ कवि को इष्ट भक्ति-रस का ग्रहण भी आवश्यक है। 'रस' शब्द मानस में अनेकत्र आया है। गोस्वामीजी ने 'नव रस जप तप जोग बिरागा' में नो रसों तथा 'सकल कामना हीन जे रामभगति रस लीन' में भक्ति-रस का स्पष्ट निर्देश किया है। इनके अतिरिक्त 'रघुबरभगति प्रेम परमिति सी', 'प्रेम भगति जो बरनि न जाई', 'भगति निरूपन विविध विधाना', 'रामभगति सुरसरितहि जाई', 'जुग विच भगति देवधुनि धारा', 'भक्ति विवेक धर्म जुत रचना' आदि स्थलों में निर्दिष्ट भक्ति साधन भक्ति है। साध्य भक्ति का निर्देश तो 'रामभगति रस लीन' में 'रस' पद से किया है। 'हरिपद रति रस बेद बखाना', 'इहाँ न विषय कथा रस नाना', 'सदा एकरस बरनि न जाई', 'भय संकोच प्रेम रस सानी', 'मगन ध्यानरस दंड जुग' आदि स्थलों में 'रस' पद का स्वरूप अर्थ है। वहाँ रस अर्थ नहीं है।

'छंदसाम्' पद से सोरठा, दोहा, चौपाई मात्रिक छंद और संस्कृत के पद्यों में अनुष्टुप् आदि वार्णिक छन्दों का ग्रहण है।

'अपि' शब्द से भावों का ग्रहण है। 'भावभेद रसभेद अपारा, में भावों का पृथक् निरूपण किया है।

'मंगलानाम्' पद से स्वयं जो मंगल स्वरूप हैं उनका एवं जो मंगल के साधन हैं उनका भी ग्रहण है। ब्रह्मवैवर्त्त के श्रीकृष्णजन्म खंड में आठ पदार्थों को मंगल कहा है—

लोकेऽस्मिन् मंगलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः।
अलंकारो घृतादित्या आपो राजा तथाष्टमः॥

ब्राह्मण '१' गौ २, अग्नि ३, अलंकार ४, घी ५, सूर्य ६, जल ७ एवं राजा८ ये आठ पदार्थ लोक में मंगल माने गये हैं। फलतः प्रकृत रामायण काव्य में मंगल पद से उपमादि अलंकारो की आवश्यकता की ओर भी संकेत है।

यहाँ 'च' का भी अर्थ है। 'च' अव्यय, पद है। अतः 'मंगलानाम्' के साथ पठित समुच्चयार्थक 'च' पद से अलंकार के सहयोगी गुण एवं दोषभाव के ग्रहण करने की ओर भी संकेत है।

[२]

भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरम्॥

जिन श्रद्धा एवं विश्वास के अभाव में सिद्धजन भी, जो साधना की कोटि को पार कर चुके हैं [अन्य साधनाभ्यासियों का तो कहना ही क्या!] अपने ही [दूसरों के नहीं] अंत करण में [दूर नहीं] स्थित सर्वशासक को नहीं देख पाते हैं- उन श्रद्धा (धर्म कर्म में रुचि) और विश्वास (शास्त्र एवं गुरु वाक्य में दृढ़प्रत्यय) के स्वरूप भवानी एवं शंकर को मैं तुलसीदास प्रणाम करता हूँ।

अग्निपुराण में श्रद्धा के विषय में कहा है—

एवं श्रद्धान्वयाः सर्वैः सर्वैः धर्माः प्रकीर्तिताः।
केशवः श्रद्धया गम्यो, ध्येयः, पूज्यश्च सर्वदा॥

यदेव श्रद्धया क्रियते तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

इस प्रकार सभी ने सभी धर्मों का श्रद्धा के साथ संबंध बतलाया है और सभी अवस्थाओं में ईश्वर श्रद्धा से ही प्राप्य है, ध्येय है और पूज्य है। क्योंकि श्रद्धा से जो ही किया जाता है वही पुष्ट होता है।

यहाँ श्रद्धा और विश्वास भगवद्दर्शन के साधन हैं। अतः भगवद्दर्शन साध्य है। साध्य-साधन में अभेद होता है। किंतु यहाँ दर्शन के साधन श्रद्धा और विश्वास में तथा दर्शन के विषयों भवानी और शंकर में परस्पर में अभेद है, अर्थात् कारण का कारण में अभेद है। दर्शन का विषय भी दर्शन का कारण माना जाता है, क्योंकि विषय का दर्शन होता है। यदि विषय न रहे तो दर्शन अर्थात् ज्ञान किसका होगा ? अतः विषय भी ज्ञान का करण ही माना जाता है। इसलिए कहा कि कारणों में परस्पर अभेद है।

श्रद्धा और विश्वास दो पदार्थ हैं। धर्म है, अधर्म है, ईश्वर है इस रुचि का नाम श्रद्धा है। जिनसे धर्म आदि हैं उन्हें जानने, और उनको जानने वाले गुरु तथा शास्त्र के वाक्यों में दृढ प्रत्यय का नाम विश्वास है।

[३]

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चंद्रः सर्वत्र वंद्यते ॥

उपर्युक्त श्लोक में बोध के देनेवाले अतएव बोध के कारण गुरु को ही बोधस्वरूप कहा है। बोध कार्य है। अतः कार्य-कारण में अभेद है। यहाँ गुरु और शंकर में अभेद ऐक्य बतलाया है। इस अभेद को रूपकालंकार कहा है—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'। श्रीमद्भागवत में उल्लिखित भगवान् के कथनानुसार गुरु और ईश्वर में ऐक्य है—'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्', अर्थात् मुझे आचार्य समझो। गुरु का अपमान मेरा अपमान है। इसलिए कभी गुरु का

अपमान नहीं करना चाहिए। क्योंकि गुरु का आश्रयण करनेवाला वक्र असरल अविनीत चंद्र अर्थात् अमति बुद्धिहीन भी सर्वत्र सभी काल में वन्द्य हो जाता है। यही भाव मानस की इस अर्धाली से भी व्यक्त होता है—

नामप्रसाद संभु अविनासी। साजु अमंगल मंगलरासी ॥

यह गुरु का ही माहात्म्य है कि उसके चरणों में उपस्थित हुआ अविनीत एवं अवोध बालक एक दिन महान् गुरु बन जाता है। कहीं विशेषण से भी विशेष्य की प्रतिपत्ति ज्ञान हो जाता है। चारों पुरुषार्थों के दाता चतुर्भुज देव हैं, जैसे—

एकोऽपि कोऽपि सेव्यो यः क्षीणं क्षीणं पुनर्नवम्।
अनुद्विग्नः करोत्येव सूर्यश्चन्द्रमसं यथा ॥

यह अर्थ गुरु पक्ष में है। शिव पक्ष में अर्थ है वक्र गुरुपत्नी गमन रूप कुटिल कार्य करनेवाला चन्द्रमा भी जिस शंकर के आश्रयण से सर्वत्र वंद्य है। वकि कौटिल्ये धातु से रक् प्रत्यय करने पर वक्र शब्द बना है। 'वंकते काष्टम्' काष्ठ टेढ़ा है, 'वंकते लौहम्' लौह को टेढ़ा करता है, इस मुग्ध बोध व्याकरण में निर्दिष्ट संकेतानुसार कौटिल्ये के 'टेढ़ा होना' एवं 'टेढ़ा करना' दोनो अर्थ हैं। इसलिए शिक्षा के पूर्व आरंभ में बालक टेढ़ा अर्थात् अविनीत होता है। अतः बालक के विषय में गुरु पक्ष का अर्थ करते समय 'वक्र' का अर्थ अविनीत किया गया। किंतु चंद्र के विषय में उसका अर्थ गुरुपत्नी गमन रूप कुटिल कार्य करनेवाला लिखा गया।

त्रिकांडशेषकार, शब्दरत्नावलीकार तथा अन्य कोषकार जटाधर ने चंद्र के पर्यायों में उसका एक नाम 'अमतिः' भी लिखा है—

दोषाकरः शर्वरीशः सारसः श्वेतवाहनः।
नक्षत्रनेमिरुडुपः सुधासूतिः तिथिप्रणीः।
अमतिः चान्दिरः चन्द्रः क्लेदुश्चन्दश्च चन्द्रमाः ॥

प्रकृत में 'चंद्र' शब्द का अमति, अज्ञानी, बोधरहित अर्थ तुलसीदासजी को विवक्षित है। यहाँ गुरु प्रस्तुत है और उसी की वंदना की जा रही है। अतः उसका आश्रयण करना और आश्रयण करनेवाला अज्ञानी बालक भी प्रकृत है, जो वाच्य है शंकर आरोप्यमाण है, अप्रकृत है। अतः उसका आश्रय करना एवं आश्रयण करने वाला चंद्रमा भी अप्रकृत है, फलतः व्यंग्य है। यह चंद्रमा व्यंग्य शंकररूपी गुरु इस रूपक की सिद्धि का अंग है। अतः वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य है।

यह ध्यान देने योग्य है कि 'शिव के आश्रयण से वक्र चंद्र भी वंद्य है' यह सीधा-सीधा अर्थ गोस्वामीजी को विवक्षित नहीं है। क्योंकि 'प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्' प्रतिपदा के वक्र चंद्र ने कहाँ शिवजी का आश्रयण किया है, फिर भी वंद्य है। अतः शिवाश्रयण से ही चंद्रमा में वंद्यता आ सकती है, अन्यथा नहीं इस गौरवमयी मुख्यता को गुरु-शिष्य में स्पष्ट द्योतित करने के लिए वक्र शब्द के साथ 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है। अतः उपरिनिर्दिष्ट विशेष विलक्षण अर्थ गोस्वामीजी को विवक्षित है। सामान्यतः वक्र चंद्र को तो प्रतिमास में शिव के श्रयण के विना भी प्रतिपदा के कारण वंदनीयता प्राप्त हो ही जाती है।

[४]

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥

सीताराम के गुणग्राम गुणसमूह रूप पुण्यारण्य में विहार करनेवाले अत एव विशुद्ध विज्ञानशाले कवीश्वर वाल्मीकि मुनि और कपीश्वर हनुमान्जी को मैं प्रणाम करता हूँ।

कवीश्वर एवं कपीश्वर के लिए विशुद्ध विज्ञानवान् होने में सीताराम के गुणग्राम रूपी पुण्यारण्य में विहार कारण है। जिस प्रकार काशी

कांची, अवंतिका, अयोध्या, मथुरा, माया और द्वारिका ये सात पुरी अथवा स्थान विशेष मोक्षदाता होने के कारण प्रसिद्ध हैं और जैसी कि काशी के विषय में गोस्वामीजी की उक्ति है—

मुक्ति जन्ममहि जानि ज्ञानखानि अघहानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥

उसी प्रकार पुण्य अरण्य भी ज्ञान के कारण होते हैं। वह पुण्यारण्य प्रकृत में सीताराम के गुणग्राम हैं। यहाँ 'ग्राम' शब्द का अर्थ समूह है।

[५]

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोहं रामवल्लभाम्॥

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहृति करनेवाली, क्लेशों (त्रिविध दुःखों) को हरनेवाली तथा संपूर्ण श्रेय को देनेवाली रामवल्लभा सीता को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ 'क्लेश' पद से त्रिविध दुःखों को समझना चाहिए। ऐसा ही गोस्वामीजी का निर्देश है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहि काहुहि व्यापा॥

योगशास्त्र में चित्तवृत्तियों के निरोधरूप में १. अविद्या (ज्ञान-विरोधी), २. अस्मिता ('मैं हूँ' यह अहंकार), ३. राग (इच्छा विशेष), ४. द्वेष (वैर) तथा ५. अभिनिवेश (मृत्यु-भय) को भी चित्त को विकल करके बाधा पहुँचाने के कारण क्लेश कहा गया है। वस्तुतः क्लेश त्रिविध दुःख ही हैं। मनुजी के इस कथनानुसार—

"धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥

परस्पर अविरुद्ध धर्म अर्थ और काम यह त्रिवर्ग ही भोगियों के

लिए श्रेय हैं और मुमुक्षुओं के लिए तो मोक्ष ही श्रेय है। किंतु प्रकृत में 'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं', पदों से दुःखासम्भिन्न सुखस्वरूप परम पुरुषार्थ को देनेवाली भगवती सीता की वंदना गोस्वामीजी ने की है। श्रेयः और प्रेयः दो पदार्थ हैं। इन दोनो की अपेक्षा जीव के लिए बतलाई गई है। योगक्षेम के लिए प्रेय की तथा अमृतत्त्व के लिए श्रेय की अपेक्षा है, जैसा कि श्रुतियों का वचन है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। इति
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।

[६]

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहिर्भ्रमे।
यत्पादः प्लव एक एव हि भवांभोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

यहाँ 'यन्मायावशवर्ति' पद में एक शेष है। नपुंसक का नपुंसक से भिन्न के साथ समास होने पर नपुंसक शेष रहता है। प्रकृत में यह पद 'विश्व' तथा 'ब्रह्मादिदेवासुरा' का विशेषण है इस अवस्था में विश्व के विशेषण के रूप में यह पद एक वचन और नपुंसक है और ब्रह्मादिदेवासुराः के विशेषण के रूप में 'यन्मायावशवर्तिनः' पद बहुवचन और पुल्लिंग भी है। जड़ और चेतन दोनों प्रकार की सृष्टियाँ भगवान् की माया के वश में हैं। अखिल विश्व पद से जडात्मिका सृष्टि का संकेत है और 'ब्रह्मादिदेवासुराः' से चेतन सृष्टि का। यहाँ आदि आरंभार्थक है, और देव तथा असुर चेतन मात्र के उपलक्षण हैं। अतः ब्रह्मा से आरंभ करके देव, असुर, पशु, पक्षी आदि समस्त चेतन जिसकी माया के वश में हैं।

'यत्सत्त्वात्' में 'यत्' पद अव्यय है। अतः सप्तमी विभक्ति का लोप हो गया है। 'यत्' का अर्थ है 'यस्मिन्' अर्थात् जिसमें। इसका समास नहीं हुआ है। गोस्वामीजी ने 'यत्सत्त्वात्' के द्वितीय पाद का आशय श्रीमद्भागवत के 'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा' इस सर्वप्रथम श्लोक से लिया है। यहाँ 'यत्र' सप्तमी है। तदनुसार यहाँ भी 'यत्' सप्तम्यन्त है। 'रज्जौ' इस उपमान में सप्तमी है। उपमान-उपमेय में समान विभक्तियाँ होती हैं। इसलिए उपमेय 'यत्' सप्तम्यन्त है। 'सकल' पद 'भाति' का कर्त्ता है। इसलिए 'अहिः' पद भी 'भाति का कर्त्ता है। अतः 'अहिः' प्रथमांत है। वह षष्ठयन्त नहीं हो सकता है। रस्सी में सर्प का भान भ्रमकाल में होता है। जब अंधकार भी रहे और थोड़ा झिलमिल प्रकाश भी और वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती हो तब ऐसा भ्रम संभव है। इसलिए यहाँ 'भ्रमे' सप्तम्यन्त पद है। गोस्वामीजी ने आगे भी लिखा है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

गोस्वामीजी ने सभी मतों का समन्वय किया है। अतः विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार जगत् सत्य ही है। इसलिए 'अमृषैव' पाठ ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। 'सत्त्वात्' पद का अर्थ है 'सत्ता से'। सत्ता तीन प्रकार की होती है—१. पारमार्थिक, २. व्यावहारिक तथा ३. प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्ता में जगत् की है ही नहीं। व्यावहारिक दशा में जगत् सत्य है। इतना सत्य है कि अपने स्वार्थ के लिए एक प्राणी दूसरे प्राणी को जान से मार डालता है। ऐसी स्थिति में 'अमृषैव' सत्य ही है। उधर रज्जु में सर्प की सत्ता प्रातिभासिक है। सर्प की प्रतीति के समय प्राणी अत्यंत भयातुर हो जाता है। अतः उस काल में सर्प सत्य ही है। इस प्रकार इस 'यत् सत्त्वात्' पद का अर्थ हुआ कि जिस भगवान् में सकल जड़ और चेतन जगत् व्यावहारिक सत्ता से सत्य ही प्रतीत होता है, जैसे भ्रम दशा में रज्जु में सर्प। संसार रूपी समुद्र

को पार करने की इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओं या भक्तों के लिए जिस भगवान् का पाद ही एकमात्र अवलंब नौका रूप है, संसार से मुक्ति का साधन है उस अशेष जगत् निखिल जड़ एवं चेतन के कारण और माया से परे सर्वांतर्यामी ईश परमेश्वर राम को मैं प्रणाम करता हूँ। श्रुति का कथन है कि—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्परतस्तु सः।

इंद्रियों से परे अर्थ है। अर्थ से परे मन है। मन से परे व्यष्टि बुद्धि है। व्यष्टि बुद्धि से परे समष्टि बुद्धि है। महान् से परे अव्यक्त प्रकृति माया है। माया से परे वह ईश्वर है। (बुद्धि और महान् एक ही पदार्थ हैं, पर्याय हैं। श्रुति में तो भ्रांति नहीं होती है। अतः व्यष्टि तथा समष्टि के भेद से बुद्धि को दो भागों में विभक्त करके समन्वय किया है)

'अशेषकारणपरं, का पहिला अर्थ ऊपर कहा गया। दूसरा अर्थ है— अशेष कारणों में पर है, श्रेष्ठ है। अर्थात् कारणों में श्रेष्ठ कारण है। जैसे किसी को कहा जाय कि वह सब मनुष्यो में श्रेष्ठ है, यद्यपि वह भी मनुष्य ही है या किसी विद्यार्थी को सब विद्यार्थियों से अच्छा कहा जाय, यद्यपि वह भी विद्यार्थी ही है। अतः 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां कारणं कारिणानां, श्रुति के वचनानुसार अशेष कारणों के भी कारण स्वयं हरि ही राम हैं। 'हरि, का अर्थ हैं—अखिल पापों और उनके कार्य दुःखों को हरण करनेवाले—

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत्कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः॥

पापों को हरने में हरि के नाम की जितनी शक्ति है उतने पापों को तो पापी नर कर भी नहीं सकता है।

[७]

नानापुराणनिगमागमसंमतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि ।
स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिवंधमतिमंजुलमातनोति ।।

इसके पूर्व में आए हुए श्लोको में गोस्वामीजी ने सकल शास्त्रों एवं शास्त्रियों के मंतव्यो का सार कह दिया है कि भगवान् की माया की दो शक्तियाँ हैं, एक आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति ने ब्रह्म के स्वरूप को ढँक लिया है, इसी को अज्ञान कहते हैं। निद्रा में यही शक्ति ज्ञान को ढँक लेती है और विक्षेप शक्ति नाना प्रकार के स्वप्न में कारण होती है। विक्षेप शक्ति ने जड़ एवं चेतन रूप सकल जगत् का निर्माण किया है असत्य भी सत्यप्रतीत हो रहा है। ऐसी अवस्था में भगवान् राम के चरणारविंद का आश्रय ही एकमात्र अवलंब है। क्योंकि राम ही परमेश्वर ब्रह्म हैं। वे माया से परे हैं वे ही अपनी माया से मुक्त कर सकते हैं।

यही कथन नाना छत्तीस पुराणों (अट्ठारह पुराण तथा अट्ठारह उपपुराण), नाना आठ निगम वेदों (चार वेद तथा चार उपवेद), नाना चौंसठ आगमों शिव प्रोक्त तंत्र (महाविश्वसार तंत्र में कहा है 'चतुःषष्टिश्च तंत्राणि यामलादीनि पार्वति ! यामलादि ६४तंत्र हैं) को सम्मत है। यही कथन शंभु एवं वाल्मीकि कृत सौ करोड़ एवं २४ लक्ष रामायण में और कहीं अन्य महाभारत में तथा सप्तविध पंचरात्रो में भी है। अपि शब्द से सप्तविध पंचरात्रों का निर्देश किया है। सप्तविध पंचरात्रों का परिचय है—

रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं सप्तविधं स्मृतम् ।
पंचरात्रं सप्तविधं ज्ञानिनां ज्ञानदं परम् ।।
ब्राह्मं शैवञ्च कौमारं वाशिष्ठं कापिलं परम् ।
गौतमीयं नारदीयमिति सप्तविधं स्मृतम् ।।

उन समस्त रघुनाथ विषयक गाथाओं कथनों को स्वांतःसुखं स्वस्वरूप आत्मस्वरूप नित्य आन्तरिक सुख रूप राम की प्राप्ति के हेतु तुलसी भाषा में अति मंजुल, अति मनोहर निवंधन ग्रंथन करता है। कुछ लोग यहाँ 'स्वान्तः सुखाय' शब्द का 'अपने अन्तःकरण के सुख के लिए' ऐसा अर्थ करते हैं जो बिलकुल गड़बड़ है ठीक नहीं है। अन्तर् एक रेफान्त अव्यय पद है। यह सान्त नहीं है। यदि यह सान्त होता तो इसके योग में रुत्व उत्व एवं गुण होकर अन्तर्गत अन्तर्वाणि एवं अन्तर्वत्नी न बनकर अन्तोगत इत्यादि अशुद्ध पद बनते। इसका अर्थ है मध्य या मध्यवर्त्ती। यह पद सर्वदा सभी जगहों में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। अतएव जिस विशेष्य के साथ यह प्रयुक्त होता है उसके मध्य वा मध्यवर्त्ती वस्तु को कहता है। जैसे—अन्तःपुर। यहाँ पुर माने घर का अन्तर् यानी मध्यवर्त्ती स्थान। अन्तःसत्त्वा स्त्रीलिंग में अन्तर् मध्यवर्त्ती सत्त्व प्राणी है जिसके ऐसी गर्भिणी या गुहा और अन्तःसत्त्व पुंल्लिंग में अन्तर् मध्यवर्त्ती सत्त्व बल है जिसके ऐसा युवा। केवल अन्तर् पद का मध्यवर्त्ती ही होगा अन्य अर्थ नहीं। अतः इस शब्द से अन्तरिन्द्रिय रूप अर्थ तभी प्राप्त होगा जब उसके साथ करण शब्द का प्रयोग होगा अन्यथा नहीं। यदि करण शब्द के प्रयोग के विना भी अन्तः शब्द का अर्थ अन्तःकरण अर्थ लेगें तो अन्तःपुर आदि उक्त सभी शब्दों में भी अन्तःकरण अर्थ लेना होगा जिसके फल स्वरूप उस प्रकार के अर्थ को करने वाले को महा[illegible]या प्राज्ञ तो जरूर २ कहेंगे।

अगर कहें कि अन्तः पुर आदि शब्दों में अन्तः शब्द का अन्तःकरण अर्थ लेने में पुर एवं सत्त्व आदि शब्द उस अर्थ के लेने में बाधक होंगे तो यहाँ प्रकृत में भी उसके साथ जुड़ा हुआ सुख शब्द भी बाधक हो जायगा। यथा इन्हें तथा उन्हें वाली कहावत हो जायगी।

एक बात और भी है कि यदि यहाँ अन्तर् शब्द का अन्तःकरण रूप अर्थ लेंगे तो प्रश्न होगा कि अन्तःकरण कौन सा लेंगे। क्योंकि—

"मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।"

इस वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार अन्तःकरण चार प्रकार का है। उनमें बुद्धि को ले नहीं सकते क्योंकि बुद्धि भी गुण है और सुख भी गुण है। गुण में गुण रहता नहीं है। अहंकार का विषय गर्व है सुख नहीं है। और चित्त का भी विषय स्मरण है अतः इन तीनों का प्रकृत में अन्तः करण शब्द से ग्रहण नहीं हो सकता है।

अगर कहें कि मनरूपी अन्तःकरण अर्थ अन्तः शब्द का लेंगे तब स्वान्तः सुखाय का अर्थ होगा "अपने मन के सुख के लिए" किन्तु मन का धर्म सुख नहीं है। उसके धर्म तो परत्त्व १ अपरत्त्व २ संख्या ३ परिमाण ४ पृथक्त्व ५ संयोग ६ विभाग ७ और वेग ८ ये आठ गुण या धर्म मन के होते हैं इसके सिवाय नहीं। हाँ सुखादि की उपलब्धि मन से होती है।

अगर कहें कि हाँ हमारा मतलब उसी मनोग्राह्य सुख से हैं तब भी ठीक नहीं। क्योंकि तब तो यह सुख—मन रूपी अन्तःकरण की जो वृत्ति है तद् वृत्ति रूप लौकिक सुख ही हुआ। किन्तु इस लौकिक सुख के लिए तुलसी ने रघुनाथ गाथा का निबन्धन किया यह तो कोई महा प्राज्ञ ही कह सकता है विज्ञ तो नहीं ही कह सकता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में सारा गुड़ गोबर हो जायगा। खोदा पहाड़ निकसी चुहिया वाली कहावत हो जायगी।

तुलसीदासजी ने तो बाह्य लौकिक सुख के लिए नहीं किन्तु स्वस्वरूप आत्मस्वरूप नित्य आन्तरिक सुख रूप राम को प्राप्त करने के लिए रघुनाथ गाथा का निबन्धन किया है। बाह्य लौकिक सुख तो पुत्र पौत्र धन दौलत से प्राप्त किया जाता है। यहाँ तो वह परम सुख वह परम आनन्द प्राप्तव्य है जिस आनन्द की मात्रा को अन्यभूत उपजीवन करते हैं (एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति)

सुखाय इसमें चतुर्थी विभक्ति का अर्थ है प्राप्ति के लिए। जैसे—"ब्राह्मण्याय तपस्तेपे विश्वामित्रः सुदारुणम्" यहाँ ब्राह्मण्याय इस चतुर्थी विभक्ति का अर्थ ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए होता है। क्योंकि उसी के लिए विश्वामित्र ने सुदारुण तप किया था। ऐसी कथा पुराणों में प्रसिद्ध है।

यहाँ 'हसनं हसितं, की भाँति निगदनं, 'निगदितं है अतः इसमें भाव में 'क्त, प्रत्यय है। 'यन्निगदितं, जो निगदन कथन है (ता रघुनाथगाथा, यह द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में है) अतः उन रघुनाथ राम संबंधी गाथाओं कथनों को। तत्त्वबोधिनीकार ने 'मातापितरौ, प्रतीक देकर एक शेष प्रकरण में—'पितुर्दशगुणं (नपुंसकलिंग) माता (स्त्रीलिंग) गौरवेणातिरिच्यते, इस स्मृति वाक्य का उल्लेख किया है और भी जैसे यत् लक्ष्यते सा लक्षणा, इत्यादि है। इसी प्रकार 'यत् निगदितम् ता रघुनाथगाथाः, को समझना चाहिए। सर्वनाम शब्दों में कभी उद्देश्य के कभी विधेय के अनुसार लिंग वचन होते हैं। गाथाः निबन्धं दोनों स्वर्ण कुण्डले करोति, शास्त्राणि चक्षुर्नवं बिभर्ति, इत्यादि की तरह आतनोति के कर्म हैं। अन्यतः पद में 'सार्वविभक्तिकस्तसि, इस वार्तिक से सप्तमी के अर्थ में तसि, प्रत्यय है। 'क्वचिदन्यस्मिन् ग्रन्थ भारते पञ्चरात्रादौ च, यह संगति है। इस प्रकार इस श्लोक का अन्वय है—

यत् नानापुराणनिगमागमसम्मतं रामायणे, क्वचिदन्यतो क्वचिदन्यस्मिन् महाभारतादौ अपि निगदितं निगदनमस्ति। ता रघुनाथगाथा, अतिमञ्जुलं भाषानिबन्धं स्वान्तः सुखाय तुलसीदासातनोति।

अयोध्याकाण्ड

वामांके च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातु माम् ॥१॥

जिसके वामांक में पार्वतीजी, मस्तक पर गंगाजी, ललाट पर बाल नवोदित द्वितीया का चंद्रमा, गले में समुद्र-मंथन से निकलने पर देवताओं की प्रार्थना से पान किया हुआ स्थावर हालाहल विष तथा वक्षःस्थल पर शेषनाग जंगम जहर सुशोभित हैं, ऐसे समाधि में प्रत्यक्ष अनुभूयमान स्मशान की भस्म शरीर में रमाए हुए, सुरश्रेष्ठ, सबके स्वामी, भक्तों के पापों के संहारक, सर्वांतर्यामी एवं कल्याणकर्त्ता गौरांग श्रीशंकरजी मुझको सर्वदा सुरक्षित रखें।

यहाँ भगवान् शंकर को शर्व कहा है साथ ही शशिनिभ गौरांग भी। शर्व के मानें संहारकर्त्ता हैं। संहार-दशा में तमोगुण का संबंध भगवान् में होता है। तमोगुण कृष्ण वर्ण है, किन्तु भगवान् शंकर गौर वर्ण हैं। इसका भाव यह है कि भगवान् शंकर जीवों को उनके पापों का संहार करके निर्मल कर देते हैं। पाप या मल काला होता है। जो दूसरों का कालापन मिटाकर उन्हें शुभ्र कर देता है, वह स्वयं अवश्य शुभ्र होगा ही। अतएव शिव हैं, कल्याण हैं।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुखतः।
मुखांबुजश्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा ॥२॥

यहाँ अभिषेकतः एवं दुखतः इन दोनों पदों में सप्तमी के अर्थ में 'तसि' है। पंचमी के अर्थ में 'तसिल्' नहीं है। अभिषेक से प्रसन्न नहीं हुई, यह कैसे कहें ? क्योंकि अभिषेक हुआ कहाँ था ? उसकी तैयारी मात्र हो रही थी। अभिषेक न होकर वनवास हो गया। इस प्रकार सुख एवं दुख के प्रसंग में भगवान् श्रीराम की स्थिति सदा एकरस रही। यही बतलाना गोस्वामीजी को अभीष्ट है।

रघुनंदन के मुखारविन्द की जो शोभा अभिषेक की तैयारी के प्रसंग में प्रसन्न नहीं हुई और न अभिषेक के बदले वनवास का प्रसंग प्राप्त होने पर म्लान हुई वह मेरे लिए सदा मनोहर मंगलों को देनेवाली हो।

नीलांबुजश्यामलकोमलांग सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥३॥

यहाँ 'श्याम' शब्द से 'सिध्मादिभ्यश्च' सूत्र से 'लच्' प्रत्यय हुआ है। अतः नील कमल के समान श्यामल कृष्ण वर्ण तथा कोमल अंगों वाले। मुकुन्दमाला वैष्णवस्तोत्र में श्यामल और कोमलांग दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग हुआ है—

जयतु जयतु मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः ॥

अतः यह अर्थ हुआ और जो अपने बाएँ सीताजी को बैठाए हुए हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'कृतकृत्यः उपात्तविद्यः, पदों की तरह 'वामभागे समारोपितसीतः ऐसा पाठ होना चाहिए था। इसका उत्तर है कि 'वाहिताग्न्यादिषु, सूत्र से विकल्प से निष्ठान्त का पूर्व निपात होता है। अतः 'आहिताग्निः की तरह 'समारोपितसीतः, और 'अग्न्याहित की तरह 'सीतासमारोपित, ये दोनो प्रयोग होते हैं। विग्रह एवं अर्थ वही होगा। सीता समारोपिता यत्र एवंभूतो वामभागो यस्य रामस्य सः। द्वितीय पंक्ति का अर्थ है—जिनके पाणि में महान् सायक एवं सुंदर धनुष हैं ऐसे रघु के वंश के नाथ रामचंद्रजी को मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ 'हस्ते, आदि पदों को न देकर 'पाणौ, पद देने का विशेष भाव है। आगे युद्ध कौशल का प्रसंग आने वाला है। अतः धनुष एवं बाण के व्यवहार में स्तुत्य हस्त भगवान् का है ('पण व्यवहारे स्तुतौ च, इस धातु से 'इण्, प्रत्यय होने पर 'पाणि' बना है), यह बतलाना आवश्यक है।

अरण्यकाण्ड

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेंदुमानंददम्।
वैराग्यांबुजभास्करं ह्यघघनध्वांतापहं तापहम् ॥

मोहांभोधरपूगपाटनविधौ स्वःसंभवं शंकरम् ।
वंदे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥१ ॥

धर्मतरोर्मूलम्, यह ब्राह्मणवंश धर्मरूपी वृक्ष का मूल है । इसकी पुष्टि मनुस्मृति (११।८४) के इस वचन से होती है—'धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते, अर्थात् ब्राह्मण धर्म का मूल है तथा क्षत्रिय उसका अग्र भाग है । किसी समय द्वापर में कौरव एवं पाण्डवों में घमासान युद्ध हुआ । उस युद्ध में पाण्डवों का विजय हुआ और कौरवों की हार हुई । जिसके फलस्वरूप परास्त हुए शेष कौरवेश यानी बचे हुए कौरवों के अधीश लोगों को विजेताओं के राज्य में रहना पसन्द नहीं हुआ अत वे भारत छोड़कर भारत के बाहर के प्रान्त में चले गये जो शेख कुरेश के नाम से प्रख्यात हुए । क्योंकि हर एक दश कोश के अन्तर पर भाष बदलती रहती है उसके उच्चारण का टोन भी बदल जाता है । अत शेष का शेख हो गया । पढ़े लिखे मैथिल लोग भी मूर्धन्य षकार क खकार बोलते हैं । अतः कौरवेश का कुरेश हो गया । बलदेव ज कृष्ण के बड़े भाई थे । कृष्ण छोटे । जिनमें पाण्डव कृष्ण के अनुयार थे और कौरव बदलदेव जी के अनुयायी । इसका कारण था वि बलदेव जी ने गदायुद्ध की शिक्षा भीम एवं दुर्योधन को दी थी । इन भीम बल के गर्व में मस्त था अतः बुद्धि का उपयोग अधिक नहीं क सकता था और दुर्योधन बुद्धिमान् था अतः बुद्धि पूर्वक गदायुद्ध व शिक्षा को ग्रहण किया । जिसके बदौलत बलदेव जी को दुर्योधन अत्य प्रिय था । भीम की तरफ उनका कोई आकर्षण नहीं था । यह गुरुअ का स्वभाव होता है कि जो उनके दिये ज्ञान को अच्छी तरह ग्रहण कर हैं वे उनके विशेष कृपापात्र होते हैं । इसी तरह गुरुओं के कृपाभाज वे शिष्य भी उनके पूर्णतः अनुयायी हो जाते हैं । यही स्थिति दुर्योध की थी । दुर्योधन उनका पूर्ण अनुयायी था । गुरु के चिह्नों को धार करता था वैसे ही वस्त्र पहिनता था । दुर्योधन के पूर्ण अनुयायी होने

उसके वर्ग के शेष कौरवेश भी वलदेवजी के चिह्नों एवं वेशभूषाओं को धारण करने लगे। वलदेवजी का एक नाम मुसली था। जिसके कारण वे वचे हुए कौरव मुसलिमान्य कहलाने लगे। मुसली वलदेव जी हैं मान्य गुरु जिनके वे शिष्य मुसलिमान्य कहलाये। इस मुसलिमान्य शब्द का वे लोग अपनी भाषा में मुसल कीं तरह दृढ़ ईमान वाला अर्थ करने लगे। उनका यह अर्थ भी हमारी व्याख्या के ओर पूर्ण अग्रसर है।

वलदेवजी नीले रंग का वस्त्र पहिनते थे। रोहिणी के पुत्र थे। वलदेवजी टोपी पहिनते थे और उस टोपी में तारा का अंक चिह्न रखते थे। उनका आयुध मुसल तथा हल था। इन कारणों से उनके नाम नीलाम्वर, रौहिणेय, तारांक, मुसली एवं हली थे। इन्हीं नामों से उनके साथ व्यवहार होता था। जिसके फलस्वरूप उनके अनुयायी शिष्य मुसलिमान्य भी नीले रंग का वस्त्र अधिक प्रेम से पहिनते हैं। और अपने व्रत का अनुपालन दिन भर भूखे रह कर करते हैं तथा सायंकाल तारों को देखकर भोजन करते हैं यानी रोहिणी नक्षत्र का दर्शन करना तारों का देखना है। अपनी टोपी में तारा चन्द्र का चिह्न लगाये रहते है और अपने पूजा स्थान की दिवाल में हलका चिह्न वनाते है। पूजा स्थान को मस्जिद कहते हैं। जिसका अर्थ है मस्जि माने मन की शुद्धि द माने देने वाला स्थान। टुमस्जो शुद्धौ धातु से सर्वधातुभ्य इन् सूत्र से इन् प्रत्यय होकर हरि शब्द की तरह मस्जि शब्द बना है। मस्जिं ददातीति मस्जिदं स्थानम्। इस तरह ये मुसलिमान्य लोग क्षत्रिय हैं। ब्राह्मणों के संसर्ग के अभाव में धीरे २ आचार के लोप होने से ये वृषल हो गये। जैसा कि वायुपुराण में उल्लिखित है कि

शनकैश्च क्रिया लोपाद् ब्राह्मणनामदर्शनात्
वृषलत्वं गता लोके इमाः क्षत्रियजातयः।

ब्राह्मणो के दिखाई नही पड़ने से शनैः शनैः स्वजातिविहित क्रियाओं का लोप हो गया। फलतः ये क्षत्रिय जातियाँ वृषल हो गईं। ब्राह्मणत्व की रक्षा से ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता है।

'विवेकजलधेः पूर्णेन्दुम्' यह ब्रह्मकुल विवेकरूपी समुद्र के लिये पूर्ण चंद्र है। चंद्र को देखने पर समुद्र में ज्वार भाटा आता है। 'पूर्णश्चन्द्रोदयाकांक्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः, परितः पूर्णता प्राप्त होने पर भी महार्णव चंद्र के उदय की आकांक्षा रखता है इसी तरह ब्रह्मकुल के संपर्क से जनता के विवेक की वृद्धि होती है।

'आनंददम्, यह ब्रह्मकुल आनंद देने वाला है। प्रसिद्धि है कि 'यस्मै विप्राः प्रसीदन्ति तस्य भाग्योदयो ध्रुवम्, अर्थात् जिसपर ब्राह्मण प्रसन्न हो जायँ उसका भाग्योदय ध्रुव है, निश्चित है।

वैराग्यांबुजभास्करम्, यह ब्रह्मकुल वैराग्यरूपी अंबुज को विकसित करने के लिए सूर्य है।

अघघनध्वांतापहम्, यह ब्रह्मकुल पापरूपी घोर अंधकार का अपहनन विध्वंस करनेवाला है।

'तापहम्, अर्थात् यह ब्रह्मकुल पापजनित ताप का हननकर्ता है।

'मोहांभोधरपूगपाटनविधौ स्वः संभवम्, यह मोहरूपी मेघ समूह को उड़ा देने में वायु है। 'स्वः संभवम्, अर्थात् अंतरिक्ष में संभव (वृद्धि) है जिसकी ऐसा वायु।

'शंकरम्, यह विश्व का 'शं, अर्थात् कल्याण करनेवाला है।

'कलंकशमनम्, पापों का शमन करनेवाला अर्थात् प्रायश्चित्तादि का अनुष्ठान कराकर पापों को शांत कर देने वाला यह ब्रह्मकुल है।

'श्रीरामभूपप्रियं, यह ब्रह्मकुल महराज श्रीरामचंद्रजी को प्यारा है तथा महराज श्रीरामचंद्रजी इनको प्यारे हैं।

सांद्रानंदपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुंदरम्।
पाणौबाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्॥
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितम्।
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथि गतं रामाभिरामं भजे ॥२॥

यहाँ 'सांद्रानंद और ,पयोदसौभग, दोनो शब्दो का द्वंद्व समास है। व्याकरण के नियमानुसार द्वंद्वांत में श्रूयमाण 'तनु, शब्द का उन दोनो से संबंध होता है। अतः दो शब्द बने। 'तनु, शब्द का अर्थ है शरीर स्वरूप। अतः सांद्र सघन अर्थात् पूर्ण आनंदस्वरूप राम हैं। भगवान् ने कहा भी है 'सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यं मुक्तस्वभाववान्,। 'पयोद नूतन मेघ के सदृश सुभग (सुभग एव सौभगः स्वार्थे में अण् प्रत्यय हुआ है) सुदृश्य आँखों को सुहावने राम हैं। रघुवंश (स० ११।८०) में 'सुभग, का सुदृश्य चक्षुष्य अर्थ मिलता है—

केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः।

'पीतांबरम्', 'सुदरं', 'वरम्'—पीतवस्त्र धारण किए हुए हैं, अतएव सुंदर और श्रेष्ठ हैं

'पाणौ बाणशरासनम्'—यहाँ कंठेकालः की तरह व्यधिकरण बहुव्रीहि है अतः एक पद है। अर्थ है, जिसके हाथ में बाण और शरासन हैं।

'कटिलसत्तूणीरभारम्'—कमर में तूणीर का भार तरकस का बोझ सुशोभित है। यहाँ चाणक्य नोति के अधोलिखित श्लोक के समान 'भार' शब्द का अर्थ बोझ है—

अविश्रामं वहेद्भारं शीतोष्णं च न विन्दति
ससन्तोषस्तथा नित्यं त्रीणि शिक्षेत शाद्वलात्।

तरकस बाणों से पूर्ण है, अतएव बोझ हो गया है।

'राजीवायतलोचनम्'—'राजीव' कमल के सदृश 'आयत' विशाल जिनके 'लोचन' नेत्र हैं।

'धृतजटाजूटेन संशोभितम्'—मस्तक पर धारण किए हुए जटाजूट से जो अतीव शोभायमान हैं।

'सीतालक्ष्मणसंयुतं पथि गतं—सीता और लक्ष्मण जिनके साथ हैं और पैदल यात्रा कर रहे है

उपर्युक्त मांगलिक श्लोक अरण्यकांड के हैं। इस कांड में भगवान् जंगल में अभियान कर रहे हैं। अतः उसी स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है—

आगें राम अनुज पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें॥
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥

यह सब माया के संबंध से हो रहा है।

किष्किंधाकाण्ड

कुंदेंदीवरसुंदरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृंदप्रियौ।
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ
सीतान्वेषणतत्परौ पथि गतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥१॥

श्रीराम श्रीसीताजी की खोज में तत्पर हैं, अर्थात् आसक्त हैं। अतएव अरण्यपथ में अग्रसर हैं। यहाँ 'पथि' और गतौ ये दो पृथक्-पृथक् पद हैं। 'पथि' सप्तमी के एक वचन है। 'गतौ' प्रथमा का द्विवचन है। ऐसे रघुवंशियों में श्रेष्ठ श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मण दोनों भाई निश्चय ही हमारे लिए भक्ति को देनेवाले हों।

'कुंदेंदीवरसुंदरौ'—श्रीलक्ष्मण कुंद पुष्प के समान तथा श्रीराम नीलकमल के समान सुंदर हैं। यहाँ लक्ष्मणजी के स्वरूप का प्रथम वर्णन करने का भाव यह है कि भगवान् श्रीराम संप्रति वन-यात्रा में चल रहे हैं। इस समय पथ-प्रदर्शक के रूप में सेवक को आगे रहना चाहिए। अतः श्रीलक्ष्मण का प्रथम वर्णन औचित्यपूर्ण है। 'कुंद' की उपमा से श्रीलक्ष्मण का गौर वर्ण तथा 'इंदीवर' की उपमा से श्रीराम का नील वर्ण संकेतित है।

'अतिबलौ'—सुंदर व्यक्ति का सुकुमार होना तो सहज है, किंतु

शक्तिशाली होना अस्वाभाविक है। अतः इस दोष के परिहार के लिए 'अतिवलौ' कहा। वे वलवान् ही नहीं वल की सीमा हैं।

'विज्ञानधामौ'—विज्ञान के धाम हैं, अर्थात् विविध, विशिष्ट, सर्वापेक्षया विलक्षण ज्ञान के घर हैं। जो वलवान् होते हैं, वे प्रायः शारीरिक श्रम में ही लगे रहते हैं। ज्ञानार्जन के लिए उनकी मनःस्थिति नहीं होती है। इस दोष के निवारणार्थं दोनों को विज्ञान का धाम कहा। इस प्रकार ज्ञान की पराकाष्ठा दिखाई। यहाँ 'धामौ' 'वर्मौ' इन दो नान्त शब्दों को अदंत माना है। यह कैसे हुआ ? इसका उत्तर है कि जो हलंत हैं वे अदंत भी हैं, जैसे—मन, रज, शिर प्रभृति शब्द—

मनस्थं मनमध्यस्थं निरोधे मनवर्जितम्
मनसा मनमालोक्य सदा सिध्यन्ति योगिनः।
पिण्डं दद्यात् गयाशिरे।
शिरोवाची शिरोऽदन्तो रजोवाची रजस्तथा।

इस प्रकार दोनो शब्दों के अदन्त प्रयोग प्रमाण से सिद्ध हैं।

व्याकरणशास्त्रानुसार भी सिद्ध हैं। 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नौ' इस सूत्र से 'अच्' इस पद का योग विभाग किया गया है, जिससे पद्मनाभः, हिरण्यनाभः, सप्तगंगं तीर्थम्, द्वियमुनः प्रदेशः इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'विज्ञानधामौ' तथा 'सद्धर्मवर्मौ प्रयोग भी सिद्ध हुए।

'शोभाढ्यौ'—इसका तात्पर्य है कि शोभा के आढ़तिया हैं। 'आढ्यता' का ही तद्भव रूप आढ़तिया है। शोभा की आढ़त हैं अर्थात् शोभा के धनी हैं। समस्त विश्व इनसे ही शोभा को प्राप्त करता है। शोभा के आढ़तिया होने से शोभा इन्ही के यहाँ मिलती है।

'वरधन्विनौ—यदि शोभा के वितरण में ही लिप्त रहेंगे तो सीता-न्वेषण किस प्रकार करेंगे अतः 'वरधन्विनौ कहा। कहने का भाव यह है

कि उपर्युक्त गुण संपन्न होने पर भी शौर्य को प्रधान रूप से प्रश्रय दिये हुए हैं। धनुर्धारियों में श्रेष्ठ हैं। अर्थात् शोभा और धनुर्विद्या दोनों के गुरु हैं।

'श्रुतिनुतौ'—इस प्रकार विलक्षण धर्मों के आश्रय होने के कारण वेद भी जिनको वारंवार नमो नमः करता है।

'गोविप्रवृंदप्रियौ'—गो एवं विप्रवृंद अर्थात् वैदिक ब्राह्मणों के प्रिय हैं अथवा गो और वैदिक ब्राह्मण जिनको प्रिय हैं। इस प्रकार यज्ञ-पुरुषत्व सिद्ध किया है।

'उभौ' 'मायामानुषरूपिणौ'—यज्ञपुरुष तो एक हैं फिर यहाँ 'उभौ' कहने का क्या तात्पर्य है? इसका भाव यह है कि एक ही हैं, किन्तु माया से मनुष्यरूप में दो हो गये हैं। अन्यत्र भी कहा है—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धर की सोइ आवा॥

'रघुवरौ'—रघुवंश में अवतरित हुए हैं।

'सद्धर्मवर्मौ हितौ'—समीचीन श्रुति स्मृति विहित धर्म की ग्लानि न होने पाए इसलिए उसकी रक्षा के हेतु वर्म अर्थात् कवच हैं और हित करने के लिए ही अवतार ग्रहण किया है। मानस में ही कहा है—

विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥

गीता में भी स्वयम् भगवान् का वचन है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत?
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

वे मनुष्यावतार की झलक दिखाकर खल-दमन के मार्ग में प्रवृत्त हुए हैं। खलदमन में भी अपना कोई स्वार्थ नहीं है। इस व्याज से खलों

का शाधन करना तथा भक्तों को परम अभीष्ट भक्ति का प्रदान करना उनका लक्ष्य है। सीतान्वेषण के व्याज से पद-पद पर जीवों को भक्ति बाँटते हुए सद्धर्म की स्थापना में निरत जो हैं वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं।

ब्रह्मांभोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छंभुमुखेंदुसुंदरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबंति सततं श्रीरामनामामृतम्॥

गोस्वामीजी नामी का वर्णन करने के पश्चात् नाम-वर्णन में प्रवृत्त होते हैं। वे सुकृति पुण्यात्मा पुरुष धन्य हैं, जो निरंतर सतत श्रीराम नाम रूपी अमृत का पान करते हैं। यहाँ व्यतिरेकालंकार है।

'ब्रह्मांभोधिसमुद्भवं'—एक अमृत क्षीरसागर से उत्पन्न है। यह रामानामामृत वेद रूपी समुद्र से प्रकट हुआ है।

'कलिमलप्रध्वंसनं'—वह अमृत पीने वाले के मल को दूर करता है। कलि उपलक्षण है। यह तो सर्वयुगीन प्राणियों के मल का स्मरण-दर्शन आदि से ध्वंस ही नहीं प्रध्वंस कर देता है।

'अव्ययम्'—वह अमृत पीने पर समाप्त हो जाता है, किंतु यह तो अव्यय है, त्रिकालावाधित है अनश्वर है। इतना ही नहीं इस अमृत को पीने वाले भी उसी के सदृश अनश्वर हो जाते हैं।

'श्रीमच्छंभुमुखेंदुसुंदरवरे संशोभितम्'—उस अमृत के निष्कासन के समय भगवान् शंकर को हालाहल पीने को मिला था, किंतु यह अमृत सर्वदा श्रीशंभु के सुन्दरवर मुखेंदु में संशोभित है। इसमें विलक्षणता यह है कि इंदु जो अमृतमय है, उसे अमृतत्व का लाभ इन्हीं से होता है। वह अमृत असुरों को नहीं मिल सका। केतु ने धोखे से पान कर लिया तो उसका सिर काट लिया गया। यह अमृत तो विभीषणादि असुरों को भी सुलभ है। वह अमृत तो मंथन के समय देवताओं द्वारा पान करने पर शोभित हुआ, किंतु यह तो सदा सर्वदा संशोभित है।

'संसारामयभेषजम्'—वह अमृत तो किसी एक रोग का भेषज होगा, किंतु यह संसाररूपी महारोग का भेषज है।

'सुखकरम्'—वह अमृत जीवन मात्र देता है, किंतु यह अमृत जीवन देकर जीवन को सुखमय बना देता है।

'श्रीजानकीजीवनम्'—वह अमृत साधारण को जीवन देता है, किंतु इस अमृत से परांबा चिच्छक्ति को भी चैतन्य की उपलब्धि होती है।

सुन्दरकाण्ड

शांतं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशांतिप्रदं
ब्रह्माशंभुफणींद्रसेव्यमनिशं वेदांतवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वंदेऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्॥१॥

'शांतम्'—अर्थात जितेंद्रिय। तात्पर्य यह कि राज्याभिषेक के समाचार से किंचित् आनंदाद्रेक नहीं तथा वन-गमन से कोई क्लेश नहीं। सर्वतोभावेन अहंकाररहित, अतएव 'शाश्वत' सदा एकरस, नित्य सनातन।

'अप्रमेयम्, अनघम्'—सर्वस्वरूप होने से इस प्रकार के हैं, इतने हैं, ये हैं, ऐसे नहीं हैं, उतने नहीं हैं, वे नहीं हैं, ऐसा जिनके विषय में नहीं कहा जा सकता। अतएव अनघ, निंदा एवं पापों से शून्य।

'निर्वाण शांतिप्रदम्'—दैवसर्ग अर्थात् सात्विकजनों को शांति देने वाले।

'ब्रह्माशंभुफणींद्रसेव्यमनिशम्'—'ब्रह्म' और 'अ' के मिलकर दीर्घ होने से 'ब्रह्मा' शब्द बना है। अकेला 'ब्रह्मा' पद नहीं है 'ब्रह्मा' का अर्थ है विरंचि। 'अकारो वासुदेवः स्यात्' के 'अ' का अर्थ है 'हरि विष्णु'। 'फण' निःस्नेह धातु से 'सर्वधातुभ्य इन् इस' सूत्र से 'इन्' प्रत्यय होने पर 'फणी' शब्द बना है। उसका अर्थ है स्नेह से रहित अर्थात् स्नेह की ग्रंथि से निर्मुक्त। इन्हीं के विषय में भागवत में कहा है—

आत्मारामास्तु मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

श्रीरामजी ब्रह्मा-विष्णु-महेश तथा निर्ग्रंथ आत्माराम मुनियों से निरंतर सेव्य हैं। इसी भाव को गोस्वामीजी ने मानस-चर्चित सती-प्रकरण में यों व्यक्त किया है—

देखे सिव विधि विष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥
वंदत चरन करत प्रभुसेवा। विविध वेष देखे सब देवा॥

पंचम काण्ड में ही हनुमान्‌जी ने रावण से कहा है—

जाकें बल विरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥

यहाँ ब्रह्मा के लिए 'विरंचि', विष्णु के लिए 'हरि' तथा 'शंभु' के लिए 'ईसा' शब्द प्रयुक्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन त्रिदेवों को श्रीराम का ही बल है और उन्हीं के बल पर वे अपने कार्यों को करने में समर्थ हैं।

'वेदांतवेद्यं विभुम्'—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' अर्थात् संपूर्ण वेद जिसका आम्नान (अभ्यास) करते हैं। अतएव वह 'विभु' सर्वव्यापक है।

'सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिम्'—श्रुति का कथन है कि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, स सर्वेषामपि गुरुः' अर्थात् जो सर्वप्रथम ब्रह्मा को बनाता है और जो उसको वेदों का उपदेश देता है वही सर्व का गुरु है, वही हरि हैं, भगवान् हैं; किंतु माया से लीला करने के लिए मनुष्य रूप में अवतरित हुए हैं।

'करुणाकरं रघुवरं भूपालचूड़ामणिम्'—'करुणा' दया के 'आकर' खान, 'रघुवरम्' रघुकुल में श्रेष्ठ तथा 'भूपालचूड़ामणिम्' राजाओं में सर्वोत्कृष्ट हैं।

'अहं तुलसीदासः रामाख्यं जगदीश्वरं वंदे'—ऐसे राम नाम धारी

जगत् के ईश कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ परमेश्वर को मैं तुलसी प्रणाम करता हूँ।

नान्या स्पृहा रघुपते ! हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलांतरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव ! निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

हे रघुनाथजी ! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप अखिल के अंतर्यामी हैं, सब जानते ही हैं कि मेरे हृदय में अन्य कोई स्पृहा (कामना) नहीं हैं। हे रघुपुंगव ! मुझे अपनी निर्भरा पूर्णा भक्ति दीजिए और मेरे मन को कामादि दोषों से रहित कीजिए।

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥

'अतुलितबलधाम्'—जिस पराक्रम की तुलना नहीं की जा सकती उसके आप धाम (घर) हैं, अर्थात् पराक्रम के रूप ही हैं। पंचम काण्ड में श्रीहनुमन्जी के महान् पराक्रम का वर्णन है। इस कांड में उन्होंने समुद्र-लंघन कर सुरसेवित त्रिलोकविजयी रावण के निकाम भीषण राक्षसों से रक्षित गढ़ में प्रवेश कर उसे तहस-नहस करते हुए भस्म कर डाला। इसलिए यहाँ उन्हें सर्वप्रथम अतुलित बलशाली कहा है।

'स्वर्णशैलाभदेहम्'—स्वर्णशैल सुमेरु पर्वत के सदृश विशाल देहवाले कहकर उनके विराट् स्वरूप एवं वर्ण का परिचय दिया गया है। श्रीसीताजी वानर वपुधारी हनुमान् के कथन से आश्वस्त न हुई तब उन्होंने कहा—

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना। जातुधान अति भट बलवाना॥
मोरे हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा॥
कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बलबीरा॥
सीतामन भरोस तब भएऊ।

'दनुजवनकृशानुम्'—दानवकुल रूपी वन को जलाने के लिए कृशानु अग्नि हैं। कहा जाता है कि हनुमान्जी के द्वारा रावणसुत अक्षयकुमार के मारे जाने तथा लंका को जला देने पर जब रावण की संपूर्ण अजेय शक्ति व्यर्थ हो गई तब उसके मंत्रियों ने हनुमान्जी के महान् पराक्रम से आश्चर्यचकित होकर इसका कारण रावण से पूछा। रावण ने उत्तर दिया मैंने दस रुद्रों के प्रीत्यर्थ अपने मस्तकों की वलि दी, किंतु ग्यारहवें रुद्र को वलि नहीं दे सका वही ग्यारहवें रुद्र ये हैं इससे श्रीहनुमान्जी का रुद्रावतार होना यहाँ स्पष्ट प्रकट है।

'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'—ज्ञानियों की नामवाली की श्रेणी में सर्वप्रथम हनुमान्जी का नाम लिया जाता है। हनुमान्जी ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं विद्वत्समाज में प्रसिद्धि है कि 'हनुमान्नव व्याकरणार्थवेत्ता', अर्थात् हनुमान्जी नव व्याकरणों के अर्थों के गंभीर ज्ञाता हैं।

'सकलगुणनिधानम्'—समस्त गुणों की निधि, खज़ना हैं। जिस प्रकार खजानोंमें रत्नादि सुरक्षित रहते हैं और यथासमय उपयोग में आते हैं, उसी प्रकार हनुमान्जी में समस्त गुण विद्यमान हैं, जिसकी पुष्टि श्रीजानकीजी के कथन से होती है—

अस्तिलक्षणसंपन्नं माधुर्यगुणभूषितम्॥
बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितुम्।
श्लाघनीयोऽनिलस्य त्वं पुत्रः परमधार्मिकः॥
बलं शौर्यं श्रुतं सत्त्वं विक्रमो दाक्ष्यमुत्तमम्।
तेजः क्षमा धृतिर्धैर्यं विनीतत्वं न संशयः॥
एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः।

तुम शुभ लक्षणों से युक्त हो, माधुर्य गुण तुम्हारा भूषण है, बुद्धि के आठों अंग तुम में उपस्थित हैं और ऐसे वचन तुम्हीं कह सकते हो। तुम वायु के श्लाघनीय एवं परम धार्मिक पुत्र हो। तुम्हारा बल और तुम्हारी वीरता सराहनीय है। शास्त्रज्ञान, दृढ़ता, पराक्रम, उदारता

तेज, धैर्य, क्षमा, नम्रता तथा इससे इतर बहुतेरे श्रेष्ठ गुण तुम में सुशोभित हैं। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

'वानराणामधीशम्'—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वानरों के राजा तो सुग्रीव हैं, तब हनुमान् जी को क्यों कहा? वस्तुतः हनुमान् वानर-वाहिनी में सर्वाधिक पराक्रमी, बुद्धिमान् एवं राम भक्त थे। सीता के शोध को उनके अतिरिक्त अन्य कोई वानर न कर सका। उनके ही कारण समस्त वानरों के प्राणों की रक्षा हुई—

नाथ ! काजु कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥

अतः हनुमान्जी सुग्रीव की अपेक्षा वानरों के अधिक ईश हैं।

'रघुपतिवरदूतम्'—रघुपति के श्रेष्ठ दूत हैं। हनुमान् ही एक मात्र ऐसे दूत थे, जिन्होंने सीताजी का पता लगाया और रावण की सभा में अपने स्वामी के शौर्य की धाक जमाई। जो कार्य दूसरों के लिए असाध्य था, उसे हनुमानजी ने अत्यंन्त सुंदरतापूर्वक सुसंपन्न किया।

'वातजातम्'—कहने का भाव यह है कि वायु ऐसा तत्त्व है, जो सदा गतिशील है, जिसे कहीं कभी थकावट नहीं आती। वायु का एक नाम 'सदागत्ति' शील है। पुत्र में पिता के गुणों का आना स्वाभाविक ही है। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभते' सिद्धांत है। हनुमान्जी की गति भी अपने पिता वायु के सदृश ही थी। समुद्रलंघन तथा लक्ष्मण-मूर्छा के समय औषध लाने में उनकी गति की तीव्रता सुप्रसिद्ध ही है

इस एक ही श्लोक में गोस्वामीजी ने समस्त हनुमत्स्तोत्रों का समावेश अति सुन्दर ढंग से कर दिया है। इसी को गागर में सागर भरना कहते हैं।

लंकाकाण्ड

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं
योगेन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम्।

मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृंदैकदेवं
वंदे कंदावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥१॥

'कामारिसेव्यम्'—कामारि शिवजी हैं सेव्य जिसके ऐसे श्रीरामजी। इस संपूर्ण पद्य में श्रीराम के सोलह विशेषण अर्थात् सोलह गुण बतलाए गए हैं कि भगवान् राम में षोडश कलाएँ हैं पहली कला यह है कि श्रीराम ने रावण को जीतने के लिए सेतुबंध रामेश्वर की स्थापना की है, जिसका संकेत इस पद से किया गया है। अथवा

रमन्ते योगिनो यस्मिन् सदानन्दे चिदात्मनि
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते ॥

इसके अनुसार कामारि से सेव्य हैं। कामदेव ने पुष्प रूपी धनुष एवं बाण से सकल लोक को जीत लिया था। उसके भी जेता एक मात्र महादेव हैं। उनसे भी सेव्य श्रीराम हैं। ब्रह्मरूप से श्रीराम शंकर के स्वामी तथा विष्णु रूप से सखा हैं। स्वामी और सखा दोनो प्रणम्य हैं।

'भवभयहरणम्'—'भव' अर्थात् 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्' पुनः पुनः जन्म लेने वाले रूप भय को हरण करनेवाले।

'कालमत्तेभसिंहम्'—कालरूपी मतवाले हाथी के लिए श्रीरामजी सिंह हैं, अर्थात् मृत्युंजय हैं। इस तरह हरि-हर का अभेद कहा अथवा यहाँ का भाव यह है कि 'यस्य ब्रह्म क्षत्रं च उभे भवति ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनम्' ब्रह्म और क्षत्र जिसके ओदन हैं' मृत्यु जिसका उपसेचन है

'योगेन्द्रम्'—कहीं-कहीं 'योगीन्द्रम्'पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है कि योगमाया से समावृत हैं, अतः योगिनामप्यगम्यम्' योगियों के लिए भी अगम्य हैं।' महायोगी नारद को अहंकार हो गया कि भगवान् का मुझसे उत्तम भक्त अन्य कोई नहीं है, मैं ही सबसे बड़ा भक्त हूँ। भगवान् तो जीवनमात्र का कल्याण करते हैं, फिर भक्तों का तो 'हम

भक्तन के भक्त हमारे' इस कथानुसार अवश्य ही कल्याण करते हैं। नारद भगवान् के यहाँ पधारे। भगवान् बीमार पड़ गए। नारद से कहा गया कि किसी का कलेजा का चीर कर लाया जाय तभी बीमारी मिट सकती है। कलेजा लेने के लिए नारद तीनों लोकों में घूमे, किंतु किसी ने अपना कलेजा नहीं दिया। निराश होकर नारद लौट आए और मुँह लटकाकर खड़े हो गए। उनसे कहा गया कि आप को भगवान् का सबसे बड़ा भक्त होने का अभिमान है और जब आप ने इतने बड़े भक्त ने अपना हृदय नहीं दिया तो जो भक्त नहीं है वे भला क्यों देने लगे। नारद लजा गए इस प्रकार योगियों को भी भगवान् की माया का पता नहीं चलता।

'ज्ञानगम्यम्'—ज्ञान के ही द्वारा जानने योग्य हैं।

तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होई जाई॥

'गुणनिधिम्'—निखिल कल्याण गुणों की निधि हैं, आश्रय हैं। सकल सृष्टि के आधार राम हैं अतः गुणों की खान हैं।

'अजितम्' —अजित हैं गुणनिधि गुणाश्रय होने पर भी अजित हैं, अपरि-च्छिन्न हैं। गुणों से बद्ध होकर परिच्छिन्न होने पर ही विजित हो सकते थे, किंतु वह बात नहीं है। परिच्छेद से अतीत हैं, रहित हैं।

'निर्गुणम्'—क्योंकि निर्गुण हैं। पुष्करपलाशवत् निर्लेप हैं।

'मायातीतम्'—माया का अतिक्रमण करके उससे भी परे हैं, श्रेष्ठ हैं। 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्तत्पर एव सः' इंद्रियादि सबसे परे महत्, उससे भी परे अव्यक्त माया प्रकृति, उससे भी परे वही हैं।

'सुरेशम्'—सुरों के भी ईश शासक हैं। एक बार इंद्र, अग्नि वरुण वायु, यम, कुबेर आदि दिग्पालों के हृदय में अपने-अपने ऐश्वर्य के विषय में उन्मादक भावावेश हुआ। इसी भावावेश में वे आपस में झगड़ गये

और एक दूसरे से कहने लगे कि मैं सबसे बड़ा, तुम सभी मेरे सामने तुच्छ हो। स्थिति अधिक गंभीर होते देख भगवान् तत्काल एक महान् जाज्वल्यमान यक्ष का रूप धारण कर उन लोगों के सामने आविर्भूत हुए और अपने तेज से उन्हें व्याकुल करने लगे। सभी साश्चर्य देखने लगे कि यह कौन है ? सभी को उसके विषय में जानने की इच्छा हुई, किंतु तीक्ष्ण तेज जल रहा था। उसके निकट जाय कौन ? अंततोगत्वा अग्नि गए और प्रश्नोपप्रश्न हुआ कि तुम कौन हो ? मैं अग्नि हूँ। तुम्हारी क्या विशेषता है ? अग्नि ने कहा यदि मैं चाहूँ तो अखिल ब्राह्मांड को क्षण भर में जलाकर भस्म कर दूँ। अहो ? भला इस तिनके को आप जला दीजिए। अग्नि ने अपनी संपूर्ण सप्त जिह्वाओं से यथाशक्ति उसे जलाने का पूर्ण प्रयत्न किया, किंतु तृण जस का तस पड़ा रहा। अग्नि कुंठित शक्ति होकर वहाँ से भाग गए। इसी प्रकार वायु ने अपनी शक्ति का वर्णन करते हुए कहा कि मैं चाहूँ तो इन चौदहो भुवनों को फूँक से उड़ा दूँ। इस पर उन्होंने कहा कि इस तृण को उड़ा दो वायु ने उड़ाने की कोशिश करी किंतु अपने उनचास गणों सहित स्वयम् भिड़ने पर भी उस तृण को टस से मस न कर सके। वे भी मात खा कर पलायन कर गये ? तत्पश्चात् वरुण देवता ने भी उस तृण को जलाने एवं बहाने के लिए अपनी नवों धाराओं का एक साथ प्रयोग किया, किंतु उस पर कोई प्रभाव न पड़ा ? तब स्वयं गल गए, बह गए। इसी प्रकार पारी-पारी से इंद्रादि सभी अपनी-अपनी संपूर्ण शक्ति लगाने पर भी असफल रहे अतः सुरो के शासक होने से सुरेश हैं।

'खलवधनिरतम्'—खलो के वध में निरत हैं। 'मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या', अर्थात् विच्छू सर्प आदि भीषण जंतुओं की हति से साधुसंत भी प्रसन्न होते हैं।

'ब्रह्मवृंदैकदेवम्'—ब्राह्मणवृंद ही जिनके देव हैं। भगवान् कहते हैं हे ब्राह्मणों ? और की बात ही क्या है, यदि मेरा बाहु भी आप के

प्रतिकूल आचरण करे तो उसको भी मैं काटकर गिरा दूंगा—छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्' । मैं यजमान की वह्नि में बहती हुई घृत की धारा से उतना प्रसन्न नहीं होता हूँ जितना की भोजन करते हुए इन ब्राह्मणों के प्रत्येक ग्रास के समय प्रसन्न होता हूँ—'नाहं तथाद्मि यजमान हविर्विताने—यद् ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुधासम् ।

'कंदावदातं, सरसिजनयनम्'—'कं' माने जल को देनेवाले बरसानेवाले मेघ की तरह अवदात सुंदर श्याम । इससे भगवान् के सलोने रूप की सरसता दिखाई है । उनके नेत्र कमल के समान हैं, जिससे भगवान् सुखद सुवासमय भाव से अपने भक्तों को निहारते हैं ।

'उर्वीशरूपम्—पृथ्वी के शासक राजाधिराज महाराज परम भट्टारक परम माहेश्वर सार्वभौम सम्राट् के रूप में अवतीर्ण हुए हैं ।

शंखेंद्वाभमतीवसुंदरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं
कालव्यालकरालभूषणधरं गंगाशशांकप्रियम् ।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं
नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शंकरम् ।।२।।

मैं तुलसीदास ईड्य स्तुत्य शंकर भगवान् को प्रणाम करता हूँ ।

'शंखेंद्वाभम्' 'अतीव सुन्दरतनुम्'—शंख के समान जिनकी आभा है अर्थात् स्वच्छ गौर वर्ण वाले और इन्दु के सदृश प्रकाश एवं शीतलता वाले शंकर, अतएव कल्याणकारी अतीव सुन्दर शरीर वाले हैं ।

'शार्दूलचर्माम्बरम्' 'कालव्यालकरालभूषणधरम्'—शार्दूल व्याघ्र का चर्म ही—शाल-दुशाला नहीं—अम्बर है, वस्त्र है । इसके धारक का परम वैराग्य बतलाया है । कालरूपी कराल व्याल ही भूषण है । इससे धारक के क्रोध का जय, सर्वाभिभावकत्व एवं कील का आश्रयत्व संकेतित है ।

'गंगाशशांकप्रियम्'—गंगा एवं शशांक इतने प्रिय हैं कि उन्हें शिर पर बैठाए हैं । गंगा भक्तों के पाप को दूर करती हैं और शशांक ताप को

दूर करता है। इससे संकेत किया है कि शंकरजी पाप एवं ताप दोनों के हर्ता हैं।

'काशीशं' 'कलिकल्मषौघशमनं 'कल्याणकल्पद्रुमम्'—काशी (ज्ञान) के ईश हैं और कलि के पापसमूह को नष्ट करने वाले हैं। 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' काशी में मरने से मुक्ति मिलती है, किंतु विना पापों के नष्ट हुए मुक्ति नहीं होती। अतः भक्तों के पापों को नष्ट करके मुक्ति देते हैं। अतएव कल्याण को देने में कल्पद्रुम हैं—'आशुतोष तुम्ह अवढर दानी।

'गिरजापतिम्, गुणनिधिम्, कंदर्पहम्'—गिरजा के पति हैं अर्थात् पर्वत की सी दृढ़ताशक्ति के स्वामी हैं, गुणों के उत्कर्षों की खान हैं तथा त्रैलोक्य विजयी कंदर्प (कामदेव) को नष्ट करनेवाले हैं। यह १९ अक्षर का शार्दूल विक्रीडीत छंद है। उसमें "शार्दूल विक्रीडितं मूसौ जूसौ तौ गादित्य ऋषयः" इस पिंगल सूत्र के अनुसार मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और एक गुरु तथा १२ एवं ७ अक्षर पर यति होती है। अतः अंत के सात अक्षरो में पहले २ दीर्घ फिर १ ह्रस्व फिर २ दीर्घ और अंत में एक ह्रस्व और एक दीर्घ होना चाहिए। 'शंकरं मन्मथारिम्' में अंतिम सात अक्षरों की स्थिति परिवर्तित है।

मानस के लंकाकांड में छन्दोनुरोध के कारण पाठों में पर्याप्त हेरफेर हुआ है, विशेष रूप से दोहों में। 'शंकरं मन्मथारिम्' के स्थान पर 'कंदर्पहं शंकरम्' छंदोनुरोध से किया गया संशोधन है। मानस की प्रामाणिक प्राचीन पांडुलिपियों का मूल पाठ 'शकरं मन्मथारिं' ही है। वृत्तरत्नाकर कथित् छंदो विषयक 'उक्तात्युक्ता तथा मध्या 'प्रतिष्ठान्या सुपूर्विका' सिद्धांतानुसार वृत्तों की २६ जातियां होती हैं। इन जातियों में से किन्हीं दो के संयोग से उपजाति छद बन जाता है, जिसके उदाहरण ये नाट्यशास्त्र की प्रथम अध्याय की अभिनव भारती के अन्तिम पक्ष के प्रथम एवं तृतीत चरण में 'वंशस्थवृत्त का और द्वितीय

एवं चतुर्थ चरण में रुचिरावृत्त का लक्षण है और राम रक्षा स्तोत्र के रामं लक्ष्मण पूर्वजं पद्य के आरंभ के दो पदों में १९ अक्षर शार्दूल विक्रीडित छन्द के अनुसार अक्षर हैं अन्तिम दो पदों के अन्तिम दो अक्षर स्त्रग्धरा के अनुशार अधिक है। अतः २१ अक्षर वाले पाद हैं जिसके कारण हैं। पाद एवं पाद के अवयवों में भी परिवर्तन होने से उपजाति बन सकती है।

योो ददाति सतां शंभुः कैवल्यमपि दुर्लभं।
खलानां दंडकृद्योसौ शंकरः शं तनोतु मे ॥३॥

यहाँ सतां संबंध सामान्य में षष्ठी है। जो शंभु सज्जनों के लिए दुर्लभ कैवल्य को भी देते हैं—इससे अनुग्रह सामर्थ्य बतलाया है, और खलों के लिए दंड-विधाता हैं—इससे निग्रह शक्ति बतलायी है, वह शंकर मेरा कल्याण करें।

उत्तरकाण्ड

केकीकंठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम्।
पाणौनाराचचापं कपिनिकरयुतं बंधुना सेव्यमानं
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥१॥

मैं तुलसीदास पुष्पक विमान पर आरूढ़ श्रीरामचंद्रजी को निरंतर नमस्कार करता हूँ।

'केकीकंठाभनीलम्'—'केका वाणी मयूरस्य' इस अमरकोष के अनुसार मयूर की वाणी को केका कहते हैं। अतः उसको बोलने वाला केकी मयूर है। 'केकी का कंठ' इस अर्थ में समास करने पर 'केकिकंठ शब्द बनेगा अर्थात् 'केकि' इस प्रकार 'कि' ह्रस्व होगा, दीर्घ नहीं। ऐसी स्थति में 'केकीकंठ' क्यों? समास करने पर 'केकि' ह्रस्व ही होगा; किंतु यहाँ 'केकि ईकंठ' इतना बड़ा पद है। 'कि ई; इन दोनों में दीर्घ होने पर

'केकी' वन गया है। 'ई' का अर्थ है—'इः कामे, रतिलक्ष्म्योरीः' इस एकाक्षर कोष के अनुसार 'लक्ष्मी'। अतः 'ईकंठ' अर्थात् 'श्रीकंठ रूप अर्थ में ईकंठ शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है। श्रीकंठ शब्द का अर्थ है पक्षि विशेष, जैसा कि वराहमिहिरकृत ज्यौतिषशास्त्र के वृहत् ग्रंथ वृहत्संहिता' में उल्लिखित है—

स्त्रीसंज्ञा भासभषकक्कपिश्रीकर्णछिक्कराः
शिखिश्च श्रीकण्ठ पिप्पीक रुरुश्येनश्च दक्षिणाः।

अतः केकी ईकंठ अर्थात् केकी के श्री माने सुंदर कंठ की आभा के समान नीलवर्ण।

'सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नम्'—सुरों में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश इन तीनों में श्रेष्ठ अतएव जिनके वक्षःस्थल पर विप्र भृगुजी के पाद रूपी अब्ज कमल का चिह्न है। एक समय ऋषि समाज में उक्त तीनो देवों के विषय में यह चर्चा हुई कि इनमें श्रेष्ठ कौन ? प्रत्येक ने स्वेच्छया किसी एक को श्रेष्ठ कहा, किंतु निर्णय न हो सका। तब ऋषियों ने इन तीनो में सर्वोत्तम जानकारी के लिए भृगुजी को चुना। भृगुजी सर्वप्रथम ब्रह्मा के दरबार में गए और बिना प्रणाम किए बैठ गए। ब्रह्माजी को बहुत बुरा लगा, किंतु बिना डांट-डपट किए समझाने लगे कि ऐसा व्यवहार करना अनुचित है। इससे भृगुजी ने यह निष्कर्ष निकाला की ब्रह्मा को अपने बड़प्पन का अहंकार है। वे रजोगुणी हैं, श्रेष्ठ नहीं हैं। तत्पश्चात् शिवजी के पास गए। वहाँ स्मशान भस्म, भूत-वेताल आदि के साथ व्यवहार एवं संबंध को देखकर अदृश्य-अस्पृश्य कहने लगे तथा नाक-भौंह सिकोड़ने लगे, प्रणाम करने की परिस्थिति नहीं आने दी। तब शिवजी त्रिशूल उठाकर मारने दौड़े। इस तरह के व्यवहार से यह निश्चय किया कि वे तमोगुणी हैं, श्रेष्ठ नहीं हैं अंत में विष्णु भगवान् के यहाँ गए। विष्णु भगवान् शयन कर रहे थे। सीधे वहाँ पहुँच गए और बिना कुछ कहे-सुने उनकी छाती में लात मार दी। इस पर विष्णु

भगवान् ने कहा कि आपके कोमल चरण में मेरी कठोर छाती के संपर्क से आघात पहुँचा होगा, इत्यादि। तत्पश्चात् ऋषि समाज में आकर उन्होंने अपना निर्णय दिया कि इन तीनों सुरों में वर अर्थात् श्रेष्ठ विष्णु हैं। गोस्वामीजी ने यहाँ साभिप्राय निरूपण किया है। सभी कांडो में नील कमल या मेघ की उपमा दी है, यहाँ उत्तर में केकिकंठ की। इसका भाव है कि जैसे मयूर न आकाश में बहुत ऊँचे उड़ता है और न भूमि में स्पर्श ही करता है, उसी तरह भगवान् भी भक्तों को दर्शन देने के अभिप्राय से न तो अकाश में बहुत ऊँचे उड़ते हैं और न एकदम नीचे उड़ते हुए जाते हैं, मध्यम मार्ग का अवगमन करते हैं।

'शोभाढ्यं, पीतवस्त्रं, सरसिजनयनं, सर्वदा सुप्रसन्नम्'—इन चारों विशेषणों में प्रथम के विषय में चतुर्थ काण्ड के तथा द्वितीय एवं तृतीय के विषय में तृतीय काण्ड के तथा चतुर्थ के विषय में द्वितीय काण्ड के मंगलाचरण की व्याख्या करते हुए कह चुके हैं। विशेष के लिए उक्त स्थल द्रष्टव्य हैं। १. शोभा के धनी, २. पीले वस्त्र धारण किए, ३. कमल के सदृश नयन वाले तथा ४. सर्वदा सभी अवस्थाओं में सभी समय परम प्रसन्न हैं।

'पाणौ नाराचचापम्'—

आयुः, कर्म च, वित्तञ्च, विद्या, निधनमेव च
पंचैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः।

यहाँ 'देहिनः' पद व्यक्ति या वस्तु मात्र का उपलक्षण है। अतः यावत्पदार्थ के आयु-जीवन कर्म-क्रियाकलाप, वित्त-साधन, विद्या-प्रकाश या तत्त्व एवं निधन अंत परिणाम इन पाँच बातों का आरंभ में ही निश्चय हो जाता है, किंतु उपयोग या व्यवहार किसका, कैसा और कहाँ होता है, इसी का संकेत 'पाणि' पद करता है।

सायक, वाण, नराच, चाप और शरासन पदों का प्रयोग, द्वितीय, तृतीय एवं सप्तम काण्ड के श्लोकों में हुआ है। अयोध्या में 'सायक'

अयोध्या एवं उत्तर में 'चाप', अरण्य में 'वाण' और 'शराशन' तथा उत्तर में 'नाराच' पद प्रयुक्त हैं, जिनका पृथक्-पृथक् भाव है।

उत्पत्ति एवं विवाह मंगल प्रसंगों को पूर्ण कर भगवान् अंतिम प्रसंग करना चाहते हैं। इसका संकेत 'सायक' पद करता है। वह भी सायक महान् है। अतः अयोध्या से ही प्रसंग आरंभ हुआ। यहाँ महाराज दशरथ का अंत दिखलाया है। वण् शब्दे धातु से घञ् करने पर वाण पद वना, जिसका अर्थ है कहना। उसके वाद अर्शाद्यच् से कहनेवाले अर्थ में वाण वना। इसका अरण्यकांड में प्रयोग यह संकेत करता है कि

पुनि रघुनाथ चले वन आगे। मुनिवर वृंद विपुल सँग लागे॥
अस्थिसमूह देखि रघुराया। पूँछा मुनिन्ह लागि अति दाया॥
जानतहूँ पूँछिय कस स्वामी। समदरसी तुम्हँ अंतरजामी॥
निसिचरनिकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुवीरनयन जल छाए॥

यह सुनते ही श्रीराम ने 'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह'। वे ही वाण भगवान् के हाथ में आकर परिणाम में वस्तुतः सफल हुए। यह संकेत उत्तरकांड में प्रयुक्त 'नाराच' पद करता है, जैसा कि कहा है—

सर्वलौहास्तु ये वाणा नाराचास्ते प्रकीर्तिताः
पंचभिः पृथुलैः पक्षैर्मुक्ताः सिद्ध्यन्ति कस्यचित्॥

अयोध्या से भगवान् ने जो चापना आरभ किया उसकी समाप्ति उत्तर में हुई। इसका संकेत चाप पद करता है। हिंदी में 'चाप' शब्द दवाने के अर्थ में वहुधा प्रयुक्त होता है। वही भाव संस्कृत में भी है। धनुर्धारी धनुष की डोर पर वाण को रखकर डोर को कान पर्यंत तक खींचकर वाण को छोड़ता है। डोर की चाप अर्थात् दवाव से वाण अत्यंत वेग से लक्ष्य पर जाता है। अतएव धनुष की संज्ञा चाप हुई। अरण्य से शरों का असन फेंकना आरंभ होता है, किष्किंधा और लंका में उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया। यह 'शरासन' पद संकेत करता है।

'कपिनिकरयुतं, बंधुना सेव्यमानम्'—कपिनिकर से युत हैं अर्थात वानर समूह अपने आप भगवान् से आकर मिल गए हैं। बंधु (भाई) लक्ष्मणजी से सेव्य कहा है। लक्ष्मणजी आरंभ में ही सेवाभाव से साथ चले थे और अंत तक सेवा में लगे हैं।

'जानकीशं, रघुवरम्'—विदेह होकर भी जनक हुए, आश्चर्य है। उसकी पुत्री, जिसका केवल संबंध मात्र है, उस आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विभाग केवला चिच्छक्ति के ईश एवम् रघुवंशियों में श्रेष्ठ

कोसलेंद्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवंदितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिंतकस्य मनभृंगसंगिनौ॥

जो जानकी के करकमलों से लालित हैं, चिंतन करनेवालों के मन रूपी भृंग स्वभाव से जिनके संग लगे रहते हैं और जो ब्रह्मा-महेश से वंदित हैं ऐसे मंजु एवम कोमल हे कोसलेंद्र! तुम्हारे पदकंज हैं। यहाँ स्तः पद अनुस्यूत है। सत्ता पदार्थ के साथ ही रहती। मानस के सत्ताइस श्लोकों में यही श्लोक पाठभेद के कारण अटपटा हो गया है। 'कोसलेंद्रपदकंज' (रामजी के चरणकमल) यह विशेष्य है। 'कोमलौ' अजमहेशवन्दितौ जानकीकरसरोजलालितौ एवं चिन्तकस्य मनभृंग-संगिनौ' ये चार विशेषण हैं। इन का उक्त विशेष्य में अन्वय होना आवश्यक है। 'कोसलेंद्रपदकंजमंजुलौ' करने पर समास में विशेष्य 'पदकंज' छिप जाता है, अतः अटपटा कहा। इसका विन्यास—कोसलेंद्र! तव मञ्जुकोमलौ पादुकावजमहेशवंदितौ—यों है। यहाँ प्रयुक्त 'पादुक' शब्द पुंलिंग है, इसका अर्थ 'पाद' है।

'मन शब्द को अदंत पहिले भी कह चुके हैं, फिर भी कहते हैं। 'आशिष्' शब्द षांत है और आशीर्विष में ईकारांत भी है। ऊर्जस्वलः स्यादूर्जस्वी य ऊर्जातिशयान्वित': की व्याख्या में भानुजी दीक्षित अमर कोष की व्याख्या में लिखते हैं कि ऊर्ज शब्द अदन्त और षांत है।

'धनुष्' शब्द षांत भी और उकारांत भी है। 'धनुःपुमान् प्रियालद्रौ राशि भेदे शरासने' इत्यादि कोषकारों के कथन का सारांश यह है कि द्विरूप कोष के अनुसार हलंत अदंत होता है और अदंत हलंत भी होता है।

कुंदमिंदुदरगौरसुन्दरं त्र्यंबकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीककलकंजलोचनं नौमि शंकरमनंगमोचनम् ॥ ३ ॥

मैं तुलसीदास अनंगमोचन भगवान् शंकर को प्रणाम करता हूँ। 'कुंदम्'—यहाँ 'मुखचंद्रः' की तरह शंकरं कुन्दम् में रूपकालङ्कार है 'शंकर अतीव सुगंधित एवं शुभ्र हैं। अतः उनमें कुंदत्व का अरोप किया गया है। यहाँ 'कुंदं' पाठ ही परंपरा से सम्मत है। यह वृद्धों से सुना है।

'इंदुदरगौरसुंदरम्'—इंदु (चंद्रमा) एवं दर (शंख) के सदृश गौर एवम् सुन्दर हैं यहाँ उपमा दिखाने का भाव है कि भक्तों के प्रति शीतल और स्वच्छ हैं तथा दर की भाँति शुभ्र होते हुए मंगलमय हैं।

'त्र्यंबकापतिम्, अभीष्टसिद्धिदम्'—भगवती त्र्यंबका सर्व-मंगलकारिणी सर्वार्थसाधिका गौरी के पति हैं। अतएव अभीष्ट सिद्धियों के देनेवाले हैं। यहाँ 'त्र्यंबका' पाठ है 'अंबिका' पाठ 'सुंदर' पद के आगे बिलकुल नहीं है।

सर्व मंगल माङ्गल्ये शिवे सर्वार्थ साधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोस्तुते ॥

यह दुर्गासप्तशती का पाठ है।

सोमसूर्यानलाक्षीणि यस्या नेत्राणि तेऽम्बका।
तेन त्वं त्र्यम्बका देवी मुनिभिः परिकीर्तिताः ॥

'कारुणीककलकंजलोचनम्'—कारुणीक हैं, दयावान् हैं और सुंदर कमललोचनवाले हैं।

ग्रंथ की समाप्ति के श्लोक

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमं
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्य तु रामायणम् ।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतः स्वांतस्तमः शांतये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ।।१।।

प्रभु सर्वजगत्स्वामी श्रीशंभु तथा प्रभु काव्य के निर्माण में समर्थ सुकवि वाल्मीकि ने दुर्गम हर एक को बोधगम्य न हो सकनेवाली शतकोटि विस्तृत और अनिश (निशा रात्रि का अभाव जिससे हो) अर्थात् अज्ञान नाशक जिस रामायण को श्रीमान् रामजी के चरणकमल की भक्ति का आश्रय करके अर्थात् भक्ति के आधार पर भगवान् राम की प्राप्ति के लिए जैसे बनाया था, उस रामायण का मनन-चिंतन करके रघुनाथ के नाम में निरत तुलसीदास ने अपने आन्तरिक अज्ञान को शमन करने के लिए 'रचि महेश निज मानस राखा' के अनुसार जो महेश के मनमें संस्कृत में लिखी हुई रखी थी उस मानस रामायण को भाषा में रचकर वैसा ही बनाया ।

यहाँ भक्ति के पश्चात् आश्रित्यं पद का अध्याहार किया गया है। यह अध्याहार आवश्यतानुसार सभी स्थानों में किया जाता है, जैसे—

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा ।
यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः ।।

यहाँ वृश्चति (काटता है), सिञ्चति (सींचता है), अर्चति (पूजा करता है) इन क्रियाओं का अध्याहार किया गया है तथा अन्यत्र ध्वन्यालोक में भी—

शषौ सरेफसंयुक्तौ ढकारश्चापि भूयसा
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे ते न वर्णा रसच्युतः ।

यहाँ भूयसा के बाद प्रयुज्यमानाः पद का अध्यारार किया जाता है।

'प्राप्त्यै तु' में 'तु' का अर्थ है निश्चय। अतः प्राप्ति के लिए ही यह अर्थ किया गया है।

अथवा 'श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं' यह एक पद है और रामायण का विशेषण है श्रीरामजी के चरणकमल संबंधी भक्ति का मा ज्ञान में निश माने समाधि अंतःकरण निरोध जिससे हो जाय ऐसी रामायण। भक्तेर्मा भक्तिमं। यहाँ अन्यभ्योऽपि दृश्यते से 'मा' धातु से 'ड' प्रत्यय करने पर बना है और 'णिश समाधौ' धातु से 'इगपुधज्ञाप्रीकिरः कः, से 'क' प्रत्यय करने पर निश शब्द—'भक्तिमे भक्तिसम्बधिज्ञाने अन्तःकरणं नेशति समाहितं करोति निरुणद्धि तत् भक्तिमनिशम्' भक्ति संबंधी ज्ञान के विषय में अतःकरण के निरोध की कर्त्ता रामायण है इस अर्थ में—बना।

'रघुनाथनामनिरतः' यह सविसर्ग पाठ तुलसीदास का विशेषण है।

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्याऽवगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यंति नो मानवाः॥२॥

पुण्य है, पुण्य जनक है। 'पुण्य जनक' को 'पुण्य' कहा है। अतः यहाँ हेत्वलंकार है। 'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः यह उसका लक्षण है।

'पापहरम् सदा शिवकरम्'—पापों को हरण करनेवाला है। अतएव पापनाशक होने से सदा सभी कालों में शिव अर्थात् कल्याण का करने-वाला है।

'विज्ञानभक्तिप्रदम्, मायामोहमलापहम्'—पाठक्रम से अर्थक्रम बल-वान् होता है। इस मीमांसा शास्त्र के सिद्धांतानुसार मायाजनित मोहरूपी मल को दूर करके विज्ञान साध्य फल भक्ति को देनेवाला है।

'सुविमलम्'—सुविमलम् स्वच्छ है। स्वयं स्वच्छ है, अतः अन्यों के मलों को दूर करता है।

'प्रेमाम्बुपूरं शुभम्'—भगवद्विषयक प्रेम रूपी जल का जिसमें पूरं है प्रवाह है और जो शुभ अर्थात् मंगलमय है।

जो मानव इस रामचरित रूपी सरोवर में भक्ति (साधन भक्ति) से अवगाहन करते हैं अर्थात् मन में समझ-समझ कर पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे संसारी रूप पतंग सूर्य के घोर किरणों से दह्य नहीं होते अर्थात् जलते नहीं। 'दह' 'भस्मीकरणे' धातु भ्वादिगण की है। उससे 'दहन्ति' बनता है। 'दह्यन्ति' नहीं बनता है। दग्धुमर्हा योग्या दह्याः। अर्हे कृत्यतृचश्च।' इस सूत्र से दह्यानिवाचरन्ति आत्म नः' अर्थ में 'क्यप्' प्रत्यय होने पर 'दह्यन्ति' बना है।

रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये।

यहाँ 'तुष्' धातु से 'सर्वधातुभ्य' इन् ५६९ वें उणादि सूत्र से इन् प्रत्यय होने पर 'हिल' का 'हेलि', 'कुट' का 'कोटिः', 'बुध' का 'बोधिः', 'पुट' का 'पोटिः', 'कुस' का 'कोसिः' की तरह 'तुष' का 'तोषिः' बना है और चतुर्थी में 'तोषये' रूप बनता है।

गोस्वामी महात्मा श्रीतुलसीदासजी के लिए कथित यह सुप्रसिद्ध श्लोक यथार्थ है—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः।
कविता मंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

यहाँ 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदि' लक्षण के अनुसार पूर्णरूपक है। तुलसीदासजी को तरु बनाया है। काशी आनन्दवन नाम से प्रसिद्ध है। वह आनंद का बगीचा है, उसमें तुलसी दास तरु है, जो कि जंगम है चलने फिरने वाला है, स्थावर तरु नहीं है। उस तुलसी तरु की मंजरी रामायण रूपी कविता है जो रामरूपी भ्रमर से भूषिता है। अर्थात् उस कवितारूपी मंजरी पर रामरूपी भौंरा मँडरा रहा है।